लाला जम्बूप्रसाद

卐

9202

ऋषभदास जैन

संस्कृतच्छायासमेत–

(पारसियों की धर्म-पुस्तक)

अवेस्ता

और

उस का भाषाऽनुवाद

(उपोद्घात और हओमयश्त–यस्न ९)

लेखक

पं० राजाराम,

प्रोफ़ैसर, डी. ए. वी. कालेज, लाहौर ।

प्रकाशक

श्रीमद् दयानन्द ऐंग्लोवैदिक कालेज, लाहौर

श्रीकृष्ण दीक्षित प्रिण्टर के प्रबन्ध से बाम्बे मैशीन प्रैस मोहनलाल रोड, लाहौर ने
श्रीमद् दयानन्द ऐंग्लोवैदिक कालेज लाहौर के लिये छापी ।

प्रथमवार १०००] [मूल्य १)

समर्पण

श्रीमान् धर्मनिष्ठ लाला जम्बूप्रसाद जी के जीवन-काल
से ही उनमें मेरी श्रद्धा विशेष रही है। अब भी जब
कभी उनका स्मरण आ जाता है अथवा उन की पुण्य
मूर्त्ति दृष्टि पड़ जाती है तो हृदय गद्गद् हो
उठता है। बहुत दिनों से मेरी यह अभिलाषा
थी कि उनके धर्म-मय जीवन की कुछ
प्रसिद्ध २ वार्ताएँ एकत्रित कर लिपि-बद्ध
कर दी जायें, जिससे कालान्तर में
भी उन की स्मृति बनी रहे।
इस ही भावना को रखते हुए
अब अवकाश मिलने पर
इस कृति को पूर्ण कर
उन ही के सुयोग्य
एवं धर्मज्ञ सुपुत्र
रायसाहब
लाला प्रद्युम्नकुमार जी जैन
के कर-कमलों में सादर
समर्पण करता हूँ।

—ऋषभदास जैन

आभार

माननीय बन्धुगण !

हर्ष का अवसर है कि आज मुझ को प्रातःस्मरणीय पूज्य पिता जी की जीवनी-रूप यह पुस्तक अर्पण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

बहुत दिनों से मेरी भी यह हार्दिक इच्छा थी कि अपने तथा समाज के हितार्थ माननीय लाला जी महोदय का आदर्श जीवन-चरित्र प्रकाशित किया जाय।

मेरठ निवासी श्रीमान् बाबू ऋषभदासजी जैन ने—जिन से केवल मेरठ की जैन-समाज ही नहीं, सहारनपुर, मुजफ्फ़रनगर आदि की जैन-समाज भी सुपरिचित है और जो बड़े ही उपकारी सज्जन तथा धर्मात्मा पुरुष हैं—जिस योग्यता, परिश्रम तथा अनुभव द्वारा इस महत् कार्य का सम्पादन किया है, वह अतीव प्रशंसनीय है।

स्वयं बाबू ऋषभदास जी का चरित्र भी अति उज्ज्वल है तथा परिणाम संसार से विरक्त-रूप है और स्वभाव कोमल है। माननीय लाला जी महोदय से सदैव ही आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और मुझ पर भी आपका अत्यन्त स्नेह है। उक्त बाबू साहब ने इस कार्य को सम्पादन करके मेरे बहुत बड़े उत्तरदायित्व में भाग

लिया है और मेरा तथा समाज का महान् उपकार किया है।

इस गुरुतर कार्य के लिये मैं बाबू ऋषभदास जी का आभारी हूँ। बड़े भाई साहब लाला जयप्रसाद जी का भी अतीव आभारी हूँ जिनकी सहायता से वंश-परिचय आदि की सुव्यवस्था होसकी है और अन्य महानुभाव न्यायदिवाकर पण्डित माणिक्यचन्द्र जी तथा मास्टर रूपचन्द जी M. A. L. T. आदि का भी आभारी हूँ जिन की प्रेरणा तथा सहायता से यह कार्य परिपूर्ण होसका है।

अन्त में भावना करता हूँ कि यह जीवनी समाज के लिये उपयोगी हो।

विनीत—
प्रद्युम्नकुमार जैन

उपहार



श्रीः

निवेदन

जिस प्रकार मोक्ष-मार्ग में सम्यक्त्व को एक मन्दिर की नींव की उपमा दी जाती है, उस ही प्रकार उस मन्दिर की पूर्णता भी चरित्र-रूपी कलश से ही होती है। जिनाज्ञा में सम्यक्त्व सहित श्रावक के लिये नमस्कार की विधि न लिख कर चारित्रधारी मुनि के लिये नमस्कार करना अनिवार्य बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि वास्तविक पूज्यता सम्यक् चारित्र में ही अन्तर्निहित है। आत्मा के शुद्ध परिणमन को चारित्र संज्ञा है और इस आत्म-शुद्धि के लिये बाह्य व्यवहार तथा द्रव्य की शुद्धि आवश्यकीय है। आधुनिक समय में हम विषय-वासनाओं के इस प्रकार से दास बन गये हैं कि शुद्धि-अशुद्धि का विवेक ही हृदय से लुप्त होचला है। द्रव्य-शुद्धि को व्यर्थ बतलाया जाने लगा। किन्तु स्मरण रखिये कि आत्मा की शुद्धि मन की शुद्धता

पर निर्भर है और मन की शुद्धि के लिये भोजन तथा वस्त्र इत्यादि की शुद्धता आवश्यकीय है। आचार और विचार दोनों के शुद्ध होने पर यह आत्मा वास्तविक शुद्धता प्राप्त कर सकता है।

लोक में विद्या एवं विभव प्राप्त मनुष्यों की कमी नहीं, परन्तु ऐसे पुरुष विरले हैं कि जिनको आदर्श-रूप रख कर हम उनके चरित्र से कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकें। जीव के उपयोग में कुछ ऐसी स्वच्छता है कि वह जैसे पदार्थ से संसर्ग करता है उस ही रूप परिणमन करने लगता है। इस लिये यदि हम अपने को चारित्रवान् बनाना चाहते हैं तो हमको सच्चरित्र आत्माओं से सम्पर्क रखना उपयुक्त है। वर्तमान काल में जब कि चारित्र दिन-प्रति-दिन अधःपतन की ओर अग्रसर होरहा है, चारित्रवान् पुरुषों का साक्षात् समागम दुःसाध्य है। अतः पूर्वजों के निर्दोष चारित्र के अनुसरण द्वारा ही हम अपने चारित्र की उज्ज्वलता को स्थिर रख सकते हैं। महान् आत्माओं के पुराण तथा चारित्र आदि की रचना जो आज तक हुई है उसका भी ध्येय यह ही रहा है कि आगामी काल में चरित्र की शिथिलता होजाने पर सदाचार के इच्छुक इन महान् आत्माओं की जीवनियों द्वारा अपना चरित्र उज्ज्वल रख सकें।

इस ही उद्देश्य को लेकर आज हम आपको उस महान् आत्मा का स्मरण कराते हैं जिससे जैन-संसार का बच्चा-बच्चा परिचित है । सहारनपुर निवासी श्रीमान् माननीय स्वर्गीय तीर्थ-भक्त-शिरोमणि लाला जम्बूप्रसाद जी रईस के नाम को आज भी कौन भूल सकता है, जिनमें विद्या, विभव एवं सच्चरित्रता तीनों ही गुण ऐक्य-रूप से विद्यमान थे । उक्त महान् आत्मा की जीवनी विस्तृत-रूप से आज हम आपके समक्ष रखते हैं । आशा है कि आप गुण-ग्राह्यता की दृष्टि द्वारा इससे लाभ उठा कर इस कृति को सफलीभूत करेंगे ।

—निवेदक
ऋषभदास जैन

लाला जम्बूप्रसाद



स्वर्गीय दानवीर तीर्थ-भक्त-शिरोमणि
लाला जम्बूप्रसाद जी साहब जैन रईस, सहारनपुर

वंश-परिचय

मनुष्य की प्रमाणता के लिये ज्ञान, सच्चरित्र एवं परोपकार इत्यादि गुण तो आवश्यकीय हैं ही, परन्तु पुरुष की प्रमाणता के लिये वंश की प्रमाणता को भी मुख्य स्थान प्राप्त है, क्योंकि शुद्ध वंश-परम्परा में ही जन्म लेने से मनुष्य पूर्णतया आत्मिक शुद्धि की प्राप्ति का अधिकारी होसकता है। ला० जम्बूप्रसादजी के पूर्वज ला० कमलनयन मल्हीपुर ग्राम में (जो लगभग सहारनपुर शहर से ७ मील की दूरी पर है) निवास करते थे। इनके सुपुत्र ला० लधमलजी हुए। ला० लधमलजी के ला० खैरातीराम, ला० ठाकुरदास तथा ला० जीवनदास जी हुए। जिनमें से ला० खैरातीराम मल्हीपुर ग्राम छोड़कर पहिले नन्दी नामक ग्राम में (जो मल्हीपुर से निकट ही है) आये और फिर सन् १८१५ के लगभग सहारनपुर को अपना निवास स्थान बनाया। ला० ठाकुरदास का परिवार अब भी

मल्हीपुर ग्राम में निवास कर रहा है, जिसमें ला० नत्थूमल आदि विद्यमान हैं तथा ला० जीवनदास का परिवार साढौली जिला सहारनपुर में निवास करता है।

हमारे इस चरित्र का सम्बन्ध लाला खैरातीराम जी के परिवार से है, इस लिये उसका कुछ विस्तृत विवरण देना आवश्यक है। ला० खैरातीरामजी के ला० गुलाबसिंह जी तथा ला० मोहरसिंह जी नाम के दो पुत्र हुए। इन दोनों भाइयों में परस्पर बहुत स्नेह था और जीवन पर्यन्त दोनों इकट्ठे ही रहते रहे और कारोबार भी एक ही जगह होता रहा। इनके समय में इस परिवार की आर्थिक उन्नति विशेष रूप से हुई। ला० गुलाबसिंह जी लेन-देन तथा जमींदारी की देख-भाल किया करते थे और लाला मोहरसिंह जी अपने समय के एक प्रतिष्ठित वकील थे और वकालत के द्वारा उन्होंने प्रचुर धन उपार्जन किया तथा इनके द्वारा ही अँग्रेज़ी भाषा की शिक्षा का प्रवेश इस परिवार में हुआ। इसके पश्चात् लाला गुलाबसिंह जी के सुपुत्र लाला सन्तलाल जी और लाला मोहरसिंह जी के सुपुत्र लाला बारूमल जी बहुत दिन इकट्ठे रह कर सन् १८५४ में आपसी बँटवारा करके पृथक्-पृथक् होगये। इस लिये हम भी इन दोनों परिवारों का परिचय अब पाठकों को अलग-अलग ही करायेंगे।

लाला गुलाबसिंह जी का परिवार

लाला सन्तलाल जी

यह अपने समय के एक अद्वितीय धर्मात्मा पुरुष थे। अपने पिता लाला गुलाबसिंह जी के सदृश आप भी बहुत सदाचारी, धर्म-प्रेमी एवं अनुभवी तथा गुणज्ञ थे। आपने धार्मिक और सामाजिक उन्नति के साथ-साथ पैत्रिक सम्पत्ति को भी विशेष रूप से बढ़ाया। धनोपार्जन में जैसा आपका पुरुषार्थ था वैसा ही उस धन के सदुपयोग में भी आपका विशेष लक्ष्य रहता था। आपने अपने विशाल भवन में ही पृथक् स्थान पर श्रीपार्श्वनाथ भगवान् का एक विशाल एवं रम्य श्रीजिन मन्दिर निर्माण कराया, जिसकी प्रतिष्ठा बड़े समारोह के साथ प्रचुर धन खर्च करके सन् १८५९ में करायी। यह श्रीमन्दिरजी आज भी स्थानीय मन्दिरों में प्रमुख रूप से गणना में आते हैं। सन् १८६१ में आपने तीर्थ यात्रार्थ एक बड़ा सङ्घ निकाला और सहस्रों की संख्या में अन्य गृहस्थों को साथ लेकर श्रीसम्मेद शिखर आदि अनेक तीर्थों की यात्रा की। विशेष उदार होने के कारण आपकी जनता में बहुत प्रतिष्ठा थी। इस प्रकार ख्यातिमय

जीवन व्यतीत कर आपका स्वर्गवास सन् १८६३ में होगया और आपके सुपुत्र लाला मित्रसैनजी हुए।

लाला मित्रसैन जी

आपका जन्म सन् १८५१ में हुआ था। आप बहुत सज्जन, सरल स्वभावी तथा मितव्ययी थे। अधिक मिलनसार न होकर आप एकान्तप्रिय थे। आपकी वेशभूषा बहुत साधारण थी। अपना रहन-सहन सादा रखते हुए आपने कई इमारतें निर्माण करायीं और ज़मींदारी को भी अच्छा प्रोत्साहन दिया। आपकी एक पुत्री राजकली थी, जो सहारनपुर में ही लाला चन्द्रकिरणदास जी से ब्याही गयी थी और राजकली की लड़की बीबी जयमाला, जिसका विवाह इसी घराने से रायबहादुर लाला जिनेश्वरदास सुपुत्र लाला पारसदास साहब रईस सहारनपुर के साथ सन् १९०७ के लगभग प्रचुर धन ख़र्च करके लाला जम्बूप्रसाद जी साहब ने ही किया था। खेद है कि लाला जिनेश्वरदास जी भी थोड़ी उम्र में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर गये और बहुत बड़ी स्टेट भी व्यर्थ व्यय के कारण कोर्ट होने के बाद समाप्त होगयी। अब दुखित बीबी जयमाला को पुनः हमारे कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी का ही आश्रय है।

लाला मित्रसैन जी की दो स्त्रियाँ थीं। आपका अल्पवयः में ही सन् १८९० में स्वर्गवास होगया। आपके पश्चात् आपकी धर्मपत्नी श्रीमती अशर्फीकौर ने आपके नाम पर आपके भतीजे श्रीमान् लाला जम्बूप्रसाद जी को सन् १९०० में गोद लिया, जिनकी जीवनी पाठकों के समक्ष रखने का हमने विचार किया है।

लाला जम्बूप्रसाद जी के सुपुत्र लाला प्रद्युम्नकुमार जी और पौत्र चिरञ्जीव देवकुमार जी इस समय विद्यमान हैं। इस प्रकार लाला गुलाबसिंह जी के पश्चात् इस परिवार में एक-ही-एक उत्तराधिकारी होते रहे। इस लिये सम्पत्ति विभाजित न होकर एक ही ठौर रहने के कारण उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती चली गयी और उसके फलस्वरूप अब यह स्टेट आस-पास के सर्व जिलों में सर्वोच्च गिनी जाती है।

लाला मोहरसिंह जी का परिवार

लाला बारूमल जी

आप एक सीधी-सादी प्रकृति के व्यक्ति थे और दयालुता आपमें विशेष रूप में थी। अशक्त प्राणियों की

सहायता करने की ओर आपका अधिक ध्यान रहता था। आपने भी अपनी पैत्रिक सम्पत्ति जमींदारी जायदाद में बैङ्किङ्ग व्यापार के द्वारा बहुत उन्नति की। आप प्रत्येक रोगीकी चिकित्सा पानी द्वारा किया करते थे। परन्तु आज कलके पानीके इलाज से उनका इलाज कुछ भिन्न ही रूपका था। आप सब प्रकार के रोगी पर ऊपर से पानी डालने का आदेश दिया करते थे। शीतज्वर के रोगी का ज्वर वे इस प्रकार जल प्रपात द्वारा ही दूर कर दिया करते थे। उस समय के मनुष्यों का कहना है कि इस प्रकार जल के द्वारा रोग को दूर कर देना यह उनमें वचन-सिद्धि थी। अपने भाई लाला सन्तलाल जी के सदृश आपने भी अपने निवास स्थान से मिला हुआ ही एक विशाल श्रीजिनमन्दिर निर्माण कराया और उसकी प्रतिष्ठा बड़े समारोह से सन् १८८० में करायी। परोपकारिता के कारण आपने बहुत ख्याति प्राप्त की और आज भी आपका घराना "लाला बारूमल वालों" के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रतिष्ठा-युक्त जीवन व्यतीत कर सन् १८८४ में आपका स्वर्गवास हुआ। लाला गङ्गाराम, लाला रूपचन्द और लाला उग्रसैन नाम के तीन पुत्र आपके हुए। यह तीनों भाई लाला बारूमल जी के समक्ष ही पृथक्-पृथक् होगये थे।

लाला गङ्गाराम जी

आप भी अपने कुल के जन्म-सिद्ध-अधिकार धार्मिकता से वञ्चित न रहे। आप बड़े धर्मात्मा और मिलनसार मनुष्य थे। परन्तु करालकाल की विकराल गति है। आप अपने पिता लाला बारूमल जी के २ वर्ष पश्चात् ही सन् १८८६ में केवल ३३ वर्ष की अल्प वय में ही स्वर्गवासी हुए और आपने अपने पीछे लाला आत्माराम, लाला हरिचन्द्रराय, लाला जम्बूप्रसाद तथा लाला दीपचन्द्र नामक चार पुत्र छोड़े, जो कि विभव के साथ-साथ आपके गुणों के भी उत्तराधिकारी हुए। इन चारों भाइयों में से लाला जम्बूप्रसाद जी जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं लाला मित्रसैन जी के नाम पर गोद गये और लाला दीपचन्द्र जी लाला उग्रसैन जी के नाम पर गोद हुए।

लाला आत्माराम जी

आपका जन्म सन् १८६६ में हुआ। आप बड़े सरल स्वभावी और असाधारण मिलनसार थे। आपका धनोपार्जन की ओर विशेष लक्ष्य नहीं था। अपनी सम्पत्ति प्रायः मिलने-जुलने में

तथा भोगोपभोग के साधनों में खर्च करते थे। उदार हृदय होने के कारण समाज तथा अधिकारी-वर्ग में आपकी बहुत ही प्रतिष्ठा थी। आपको बाद में रुग्ण रहने के कारण विविध नगरों (जगन्नाथपुरी, मसूरी आदि) में रहना पड़ा और बड़े-बड़े डाक्टर प्रति-दिन हर समय आपके साथ रहे। भ्रातृ-प्रेम से हमारे लाला जम्बूप्रसादजी ने भी अन्त तक बहुत सेवा की तथा उदारता दिखायी। आपका स्वर्गवास सन् १९१२ में हुआ। आपकी केवल एक पुत्री थी, जिसका विवाह राय फूलचन्द्र जी लखनऊ वालों के सुपुत्र बाबू त्रिलोकचन्द्र जैन से हुआ था।

लाला हरिचन्द्रराय जी

आपका जन्म सन् १८७२ में हुआ। जैसे लाला आत्माराम जी मिलनसार थे वैसे ही यह असाधारण धार्मिक पुरुष थे। आपके जीवन का अधिकतर समय धार्मिक कार्यों में ही लगा रहता था। धार्मिक नित्य नियमों के पालन करने में आप बहुत दृढ़-प्रतिज्ञ थे। आपका विवाह देहरादून में राय सरनीमल जी रईस की इकलौती पुत्री से सन् १८८७ में हुआ। इस विवाह की ख्याति अभी तक देहरादून तथा सहारनपुर में प्रसिद्ध है। यह लाला उग्रसैन साहब जिनका नाम तथा

प्रतिष्ठा सहारनपुर जिले में ही नहीं, दूर-दूर तक फैली हुई थी, उनके ही सुप्रबन्ध में सम्पन्न हुआ था। किन्तु काल की विकराल गति है। आपका स्वर्गवास केवल ३४ वर्ष की अल्प वय में ही सन् १९०६ में होगया और आपकी धार्मिक भावनाओं का विशेष लाभ आपके पुत्रों को न मिल सका। आपके लाला जयप्रसाद, जिनेश्वरप्रसाद शुक्रप्रसाद, महाराजप्रसाद और भगवानप्रसाद पाँच पुत्र विद्यमान हैं तथा एक पुत्री थी जिसका विवाह देहली में लाला गनपतराय जी साहब के साथ हुआ था। इनके नाना राय सरनीमल जी साहब रईस जो कि वाइस चेयरमैन म्युनिसिपल बोर्ड तथा ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे, अपनी सर्व सम्पत्ति एक विल द्वारा इन्हीं पाँचों भाइयों को दे गये हैं। लाला आत्माराम जी की कोई सन्तान न रहने से तथा लाला जम्बूप्रसादजी और लाला दीपचन्दजी अपने अपने चचाओं की स्टेट के स्वामी होजाने से लाला गङ्गाराम जी की कुल स्टेट भी इन्हीं पाँचों भाइयों के पास आगई है। अब यह सब भाई देहरादून में ही अपने पुत्र पुत्रियों सहित निवास कर रहे हैं।

लाला जयप्रसाद जी

आपका जन्म सन् १८९५ में हुआ। आप बहुत मिलनसार और अनुभवी पुरुष हैं। आपका विवाह

लाला जुगमन्दरदास जी साहब रईस और बैङ्क वाले देहरादून वालों की सुपुत्री के साथ सन् १९०७ में हुआ। आपके इस समय चिरञ्जीव भरतेश्वरप्रसाद तथा वीरेश्वरप्रसाद दो पुत्र तथा एक पुत्री हैं।

चिरञ्जीव भरतेश्वरप्रसाद

आपका जन्म सन् १९१२ में हुआ। यह बहुत ही योग्य, मिलनसार तथा बुद्धिमान व पुरुषार्थी युवक हैं। इन्होंने B. A. पास किया है और अपनी सम्पत्ति व कारोबार को बहुत बढ़ाया। आप इस समय भारत बैङ्क देहरादून के मैनेजर हैं। आपका विवाह चौ० दर्शनलालजी रईस सुल्तानपुर वालों की सुपुत्री से सन् १९३३ में हुआ और दो कन्यायें इस समय सन्तान रूप में विद्यमान हैं। आपने अपने निवासके लिये एक सुन्दर कोठी भी बनायी है।

चिरञ्जीव वीरेश्वरप्रसाद

इनका जन्म सन् १९२४ में हुआ। यह भी बहुत होनहार, बुद्धिमान तथा सुन्दर युवक हैं। आजकल इलाहाबाद युनिवर्सिटी में B. A. FINAL में पढ़ रहे हैं और रायबहादुर लाला हुलाशराय जी ने इन्हें अपना दत्तक पुत्र बना लिया है।

लाला जिनेश्वरप्रसाद जी

आपका जन्म सन् १८९८ में हुआ। आप बहुत सरल प्रकृति के मनुष्य हैं। आपका स्वास्थ्य अब अधिक अच्छा नहीं रहा। पहिले आप बहुत बलवान थे। आपका शरीर भी बहुत सुन्दर, लम्बा तथा दृढ़ था। आपका विवाह लाला दुर्गादास जी देहरादून वालों की सुपुत्री के साथ सन् १९१२ में हुआ। आप अपना कारोबार यथायोग्य कर रहे हैं। आपके कोई सन्तान इस समय तक नहीं है, इसका खेद है।

लाला शुक्रप्रसाद जी

आपका जन्म सन् १९०१ में हुआ। आपको आरम्भ से ही चित्रकारी की लगन रही है और आप बड़े अच्छे-अच्छे चित्र स्वयं बनाते हैं। आपने समस्त कुटुम्ब के चित्र तथा अन्य बहुत से तैलचित्र बनाये हैं, और आप सेवा-समितियों में भी अधिक भाग लेते रहे हैं। आप बड़े उत्साही, निडर तथा मिलनसार पुरुष हैं। आपका प्रथम विवाह सन् १९१८ में रायबहादुर लाला छोटेलाल जी मुरादाबाद वालों की पुत्री से हुआ तथा दूसरा विवाह सन् १९२३ में लाला ऋषभदास जी

सहारनपुर वालों की पुत्रीसे हुआ। आपके आदीश्वरप्रसाद, नमेश्वरप्रसाद, राजेश्वरप्रसाद तीन पुत्र तथा दो पुत्रियाँ हैं। चिरञ्जीव आदीश्वरप्रसाद का जन्म सन् १९२५ में हुआ। यह इस समय अपना ठेकेदारी आदि का कार्य कर रहे हैं। इनका विवाह भी गत वर्ष लाला सुल्तानसिंह जी नई देहली वालों की पुत्री के साथ होगया है।

लाला महाराजप्रसाद जी

आपका जन्म सन् १९०३ में हुआ। आपकी कार्य-प्रणाली बहुत गम्भीर है और आपने अपने कारोबार को बहुत उन्नति दी। आप ठेकेदारी आदि का कार्य बहुत योग्यता के साथ कर रहे हैं। आप भी बहुत उत्साही, मिलनसार, सज्जन पुरुष हैं। आपका प्रथम विवाह साहू दीवानसिंह जी नजीबाबाद वालों की पुत्री (साहू शान्तिप्रसाद जी की बहिन) के साथ सन् १९१८ में हुआ जिससे केवल एक पुत्री प्रभातकुमारी हुई थी। सन् १९२२ में दूसरा विवाह राजा दीनदयाल वालों के यहाँ लाला ज्ञानचन्द्र जी हैदराबाद वालों की पुत्री से हुआ। आपके विजयप्रसाद, महेन्द्रप्रसाद आदि चार पुत्र तथा पाँच पुत्रियाँ हैं।

लाला भगवानप्रसाद जी

आपका जन्म सन् १९०६ में हुआ। आप भी बड़े होनहार कर्तव्य-परायण पुरुष हैं और अपना कारोबार उत्तम रीति से कर रहे हैं। आपका प्रथम विवाह सन् १९२२ में लाला नाहरसिंह जी खातौली वालों की पुत्री से हुआ और दूसरा सन् १९२८ में बाबू श्यामलाल जी ऐडवोकेट रोहतक वालों की पुत्री से हुआ। आपके विनोदकुमार आदि तीन पुत्र तथा चार पुत्रियाँ हैं।

स्वर्गीय लाला रूपचन्द जी साहब

आपका जन्म सन् १८५५ में हुआ। आप बड़े ही सरल स्वभावी और उदार हृदय पुरुष थे। आपने अपनी पैत्रिक सम्पत्ति की पूर्णतया रक्षा की। लाला जम्बूप्रसाद जी जो कि लाला मित्रसैन जी के नाम पर गोद लिये गये, उस गोद को नियम विरुद्ध निश्चित किये जाने के लिये आपने अपनी ओर से अदालत में मुक़दमा दायर किया जो कितने ही वर्षों सहारनपुर, इलाहाबाद हाईकोर्ट तथा विलायत में प्रीवी कौंसिल तक चला। अन्त में बहुत कुछ खर्च करने के पश्चात् भी आपको असफल होना पड़ा। आपके दो पुत्र रायबहादुर लाला हुलाशराय

और लाला प्रकाशचन्द्र जी हुए तथा तीन पुत्रियाँ बीबी कम्पादेवी, कनकमाला और चन्द्रप्रभा जो हुईं, जो क्रमशः सुल्तानपुर, नकुड़ तथा खातौली विवाही गयी थीं। ५४ वर्ष की अवस्था में सन् १९०९ में आपका स्वर्गवास होगया। समाज में आप गण्य-मान्य पुरुषों में थे।

रायबहादुर लाला हुलाशराय जी

आपका जन्म सन् १८८१ में हुआ। आप बड़े धर्मात्मा एवं सज्जन पुरुष हैं। स्थानीय जैन-समाज तथा अपने सम्बन्धियों में छोटे अथवा बड़े प्रत्येक व्यक्ति के कार्य में आपका सदैव सहयोग रहता है। आपका चित्त विशेष रूप से उदार है। धर्म तथा सरलता में संलग्न रहने के कारण आप अपनी स्टेट की ओर भी अपना लक्ष्य कम रखते हैं। प्रत्येक धर्म-कार्य में सहयोग देने के लिये आप सदैव तत्पर रहते हैं। आपने अपने ही श्रीमन्दिर जी में बहुत रमणीक वेदी का निर्माण करा कर उसकी प्रतिष्ठा तथा महोत्सव बड़े समारोह के साथ सन् १९३१ में कराया सन् १९३२ में आपको सरकार की ओर से रायबहादुर की उपाधि प्रदान की गयी। आपने अब लाला जयप्रसाद जी के सुपुत्र चिरञ्जीव वीरेश्वरप्रसाद को गोद लेकर अपनी समस्त स्टेट का उत्तराधिकारी बना दिया है।



रायबहादुर लाला हुलाशराय जी जैन रईस

सहारनपुर

लाला प्रकाशचन्द्र जी

आपका जन्म सन् १८८८ में हुआ था। आपका बाल्यकाल बहुत सुन्दर रहा। आपने संस्कृत की उच्च कोटि की शिक्षा पायी थी। कर्म का क्षयोपशम विशेष होने के कारण संस्कृत के साथ-साथ धार्मिक ज्ञान भी आपने अच्छा प्राप्त किया था। इस वंश में अब तक किसी ने भी ऐसी उच्च कोटि की संस्कृत-शिक्षा नहीं प्राप्त की थी। परन्तु फिर भी आप सच्चरित्रता की ओर अग्रसर नहीं होसके। विशिष्ट ज्ञान का तेज आपके मुख-मण्डल पर चमकता था। परन्तु सच्चारित्र के अभाव में विशेष विलास प्रियता के कारण वह तेज शनैः शनैः क्षीण होकर आपका केवल ४० वर्ष की अवस्था में ही सन् १९२८ में देहावसान होगया। आपकी दो पुत्रियाँ हुईं। पहिली लखनऊ निवासी बाबू गोकुलचन्द्र जी वकील के सुपुत्र बाबू मेहरचन्द्र जी से विवाही गयी और दूसरी का विवाह रायबहादुर बाबू द्वारिकाप्रसाद जी नहटौर निवासी के पौत्र तथा डिप्टी नन्दकिशोर जी के सुपुत्र बाबू चन्द्रकिशोर जी से हुआ।

स्वर्गीय लाला उग्रसैन जी साहब

आपका जन्म सन् १८५८ में हुआ था। आप तेज और प्रताप की दृष्टि से अपने समय में अद्वितीय थे।

विशाल व्यक्तित्व होने के कारण समाज तथा अधिकारी वर्ग में आपका अधिक प्रभाव था । आप ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे । जन-साधारण में आपके प्रभुत्व की गहरी छाप बैठी हुई थी । आपकी ओजस्विनी वाणी और गति से भी आपकी निर्भीकता स्पष्ट प्रकट होती थी । स्थान-स्थान पर पहुँच कर धार्मिक कार्यों में आप बड़े उत्साह से भाग लेते थे और इसी लिये यू० पी० भर की जैन-समाज में आपकी बहुत प्रतिष्ठा थी । श्रीहस्तिनागपुर तीर्थक्षेत्र के कार्य को आपने कितने ही वर्षों तक बहुत सुन्दरता, योग्यता तथा उत्साह और प्रभाव के साथ सम्पादन किया । आप जहाँ भी जाते थे, राजसी ठाट से जाते थे । आपका विवाह मेरठ निवासी लाला बनारसीदास जी की बहिन से हुआ । आपके कोई सन्तान नहीं थी । केवल ४१ वर्ष की अवस्था में सन् १८९९ में आपका स्वर्गवास होगया । आपका हमारे चरित्रनायक लाला जम्बूप्रसाद जी (अपने भतीजे) से बहुत ही स्नेह रहा है । आपके पश्चात् आपकी धर्मपत्नी श्रीगोमतीकुँवर ने आपके द्वितीय भतीजे लाला दीपचन्द्र जी को सन् १९०२ में गोद लिया और मु० श्रीगोमती जी ने अपनी स्टेट की बहुत ही कुशलता से रक्षा की ।

लाला दीपचन्द्र जी

आपका जन्म सन् १८८४ में हुआ था। आप बहुत सरल चित्त एवं सच्चरित्र थे। आपका अधिकतर समय पूजन-पाठ में व्यतीत होता था। धार्मिक-कार्यों में दत्तचित्त रहने के कारण आपने कभी रियासत के कार्यों की देख-भाल नहीं की। आतिथ्य-सत्कार तथा उदारता इत्यादि गुण आप में विशेष रूप से थे। साधर्मीजनों से आपको बहुत वात्सल्य रहता था। आपका प्रथम विवाह लाला कुन्दनलाल जी खातौली वालों की पुत्री से हुआ। दूसरा विवाह रामपुर में लाला बनारसीदास जी की पुत्री से हुआ और तीसरा विवाह सुल्तानपुर में चौधरी रोशनलाल जी की पौत्री से हुआ था। आप अनेक बार तीर्थयात्रा को भी विशेष सङ्घ लेकर गये थे। आपका स्वर्गवास केवल ४० वर्ष की अवस्था में सन् १९२४ में होगया। आपकी दो पुत्रियाँ इस समय विद्यमान हैं। बड़ी पुत्री मनोकान्ता जिसका विवाह आरा निवासी बाबू फनीन्द्रचन्द्र से हुआ है तथा दूसरी पुत्री शीलमाला का विवाह बाबू प्रतापचन्द्र सुपुत्र सेठ गुलाबचन्द्र आरा निवासी से हुआ है। लाला दीपचन्द्रजी के कोई पैत्रिक सन्तान नहीं थी। अतः स्टेट की उत्तराधिकारी अब यह पुत्रियाँ ही हुई हैं।

जीवन-चरित्र

शैशव-काल

जिस शैशव-काल की हम आज इतनी उपेक्षा करते हैं, यदि वास्तव में विचार किया जाय तो यह शैशव-काल ही प्रारम्भिक शिक्षा के लिये उपयुक्त समय है। जैसे वायु-मण्डल में जिन संस्कारों के मध्य किसी शिशु का पालन-पोषण होता है वैसे ही संस्कार उस बालक में जड़ पकड़ जाते हैं और उस पर्याय में अन्त समय तक उन संस्कारों की दृढ़ता बनी रहती है। बाह्य-रूप से एक शिशु अबोध-सा दीख पड़ता है, परन्तु वह शिशु प्राकृतिक पदार्थों को कितनी जल्दी ग्रहण करता है और उस ग्रहण करने में कितनी दृढ़ता होती है, यह अनुभव का विषय है और इसमें चित्त की सरलता ही विशेष कारण है। माता-पिता का स[illegible] विशेष होने से

शिशु पर अपने माता-पिता के चरित्र का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। लाला जम्बूप्रसाद जी के माता-पिता लाला गङ्गाराम जी का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। उनकी धार्मिकता के सम्बन्ध में और अधिक न लिख कर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि आपकी धर्मपत्नी का स्थान भी धार्मिक-क्षेत्र में आपसे कम महत्व नहीं रखता था। धार्मिकता का अधिकतर भाग सरलता में गर्भित है और सरलता आपकी धर्मपत्नी का विशेष गुण था। इस प्रकार धर्म-निष्ठ माता-पिता द्वारा हमारे चरित्र-नायक लाला जम्बूप्रसाद जी का जन्म सन् १८७७ ई० में हुआ। आपका विशाल मस्तक, भव्य मुख-मुद्रा तथा अन्य शारीरिक चेष्टायें शैशव-काल में ही सच्चरित्रता, सरलता, गम्भीरता, उदारता एवं ऐश्वर्यशालिता आदि नाना गुणों की योग्यता द्योतक थी। जिस वातावरणमें आपका शैशव-काल व्यतीत हुआ वह पूर्ण रूपसे धर्मवासित होनेके कारण उसने आपमें धर्म-वात्सल्य की वह छाप बैठा दी कि जिसने आगे चल कर धार्मिक-समाज में एक जागृति उत्पन्न कर दी।

अध्ययन—काल

कर्म के क्षयोपशम द्वारा जो बुद्धि इस जीव को उपलब्ध है, उसके विकास के लिये शास्त्रीय-ज्ञान-प्राप्ति

प्रबल कारण है और शास्त्रीय-ज्ञान की प्राप्ति के लिये विनयी एवं सदाचारी होना परम आवश्यक है। आज जो शास्त्रीय-ज्ञान का ह्रास होता जाता है, अनेक दिग्गज विद्वानों के स्वर्गवास होजाने के पश्चात् उनके स्थान की पूर्ति नहीं हो पाती है, इसका मूल कारण यही है कि पाश्चात्य आचार-विचारों के प्रभाव में पड़ कर विनय और सदाचार के भाव हमारे हृदयों से प्रायः लुप्त-से होगये। जहाँ पहिले गुरु को देख कर तत्काल चरण छूने की प्रथा थी, अब उनके आगे मस्तक झुकाने में भी अपमान समझा जाने लगा। पहिले समय में गुरु के विद्यमान होते हुए विना गुरु की आज्ञा के किसी प्रश्न का उत्तर देना भी अविनय समझा जाता था, परन्तु अब गुरु के समीप विद्या प्राप्त करते हुए ही शिष्य के मनमें अपने गुरु के प्रति लघुता के भाव उत्पन्न होने लगते हैं, और कुछ उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त कर लेने पर तो वह अपने गुरु का नाम प्रकट करने में भी अपना अपमान समझने लगता है। ऐसे निंद्य अविनय-रूप भावों के विद्यमान होते हुए हृदय में वास्तविक विद्या का प्रवेश होना दुःसाध्य ही नहीं किन्तु असम्भव है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ही इस रूप की होगयी कि सहस्रों रुपया खर्च करके भी विद्यार्थी को ठोस ज्ञान की प्राप्ति नहीं होपाती। इसके विपरीत विद्यार्थी का

शरीर दुर्बल तेज-हीन होजाता है। मस्तिष्क-शक्ति क्षीण पड़ जाती है। जब कि पहिले विद्या-प्राप्त छात्र का शरीर हृष्ट-पुष्ट होता था, बुद्धि विशद होती थी। इसका कारण यही है कि पहिले समय में विद्यार्थी को उज्ज्वल चरित्र एवं ब्रह्मचर्य अनिवार्य रूप से रखना पड़ता था और अब प्रति क्षण फैशन पर दृष्टि रहने लगी है।

विषयासक्ति के बहाव में पड़ कर अपनी प्रवृत्ति को पाप-वासना द्वारा कलुषित न होने देना ही सदाचार है। इस सदाचार और ज्ञानोपलब्धि में परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। हीनाचार एवं विषयासक्त पुरुष में विद्या-ग्रहण की योग्यता नहीं होती, क्योंकि उपयोग की एकाग्रता के अभाव में विद्या प्राप्ति का अभाव है। हमको उन्हीं पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए जो हमारे सदाचार में बाधक न हों। वर्तमान में ऐसा देखा जारहा है कि उपन्यास पढ़ने के व्यसन में पड़ कर बहुत से बालक इस प्रकार चरित्र-हीन होजाते हैं कि उनका आगामी जीवन ही व्यर्थ होजाता है और किसी भी कार्य करने के योग्य नहीं रहता।

कर्म के क्षयोपशम विशेष से आपको जन्म से ही समीचीन बुद्धि की प्राप्ति हुई और वह बुद्धि, वैभव, सदाचार और विनय गुण से प्रभावित होकर अन्य जीवों के उपकार के लिये आदर्श बन गयी। आपने मेरठ कॉलेज

में रह कर अँग्रेजी में B. A. तक शिक्षा ग्रहण की, किन्तु पाश्चात्य-प्रणाली के आचार-विचारों की गन्ध भी आपको स्पर्श नहीं कर सकी। आपने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि किसी देश की भाषा का ग्रहण आचार-विचारों के परिवर्तन में कारण नहीं है। परन्तु किसी दूसरे देश के रीति-रिवाजों के अनुकरण करने की स्पर्द्धा ही आचारों के विपरीत होजाने में मुख्य कारण है। आपकी गुरु-भक्ति एवं कृतज्ञता इससे ही स्पष्ट है कि सम्बन्ध विच्छेद के अनेक कारण बीच में उपस्थित होजाने पर भी आपने श्रीमान् माननीय न्यायदिवाकर पण्डित पन्नालाल जी में अन्त समय तक अपना गुरु-भाव बनाये रक्खा और तन, मन, धन से उनका अपूर्व सम्मान किया। मेरठ कॉलेज में B. A. तक अँग्रेजी के साथ आपने संस्कृत का अध्ययन किया, जिससे धार्मिक शास्त्र-ज्ञान में आपको बहुत सहायता मिली। आपने श्रीगोम्मटसार, राजवार्तिक इत्यादि सब ही उच्च कोटि के धार्मिक ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया था। कॉलेज के अध्ययन-काल में ही मेरठ शरह निवासी लाला धूमसिंह जी से आपकी मित्रता होगयी और यह मित्रता एवं धर्म-प्रेम शनैः शनैः इतना वृद्धिगत हुआ कि लाला धूमसिंह जी अपने कुटुम्बीजनों को मेरठ में छोड़ कर आपके पास सहारनपुर में आकर रहने लगे।

इनका परस्पर कितना प्रेम था इसका अनुमान इससे ही किया जाता है कि दोनों मित्रों का पहिरावा, रहन-सहन सदैव एक-सा रहता था और जहाँ भी कहीं बाहर जाना होता था, दोनों साथ-ही आते-जाते थे। लाला धूमसिंह जी के सहवास से आपको धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में बहुत सुगमता हुई।

लाला धूमसिंह जी मेरठ शहर के इने-गिने व्यक्तियों में से थे। और सहारनपुर आने से पहिले भी आपका अधिकतर समय धार्मिक कार्यों में व्यतीत होता था। आपकी धर्म में संलग्नता विशेष रूप से थी। जब तक आप मेरठ में थे, सभा के शास्त्र आप ही बाँचते थे। आप तेजस्वी, धैर्यवान एवं गम्भीर थे और भाषा भी आपकी ओजस्विनी थी। कुछ पूर्व संस्कार-वश आपका स्नेह इस कुटुम्ब से अपने घर वालों से भी अधिक होगया। आपने स्टेट की प्राप्ति तथा वृद्धि में बहुत कुछ भाग लिया और आपकी स्टेट के प्रति अन्तरङ्ग सहानुभूति थी। लाला जम्बूप्रसाद जी भी आपसे असाधारण स्नेह रखते थे। इस लिये ही स्टेट के कर्मचारी लाला जी से भी अधिक आपका सम्मान करते थे। आप वयः में लाला जी से बड़े थे।

गृहस्थ-जीवन में प्रवेश

वर्तमान समय में गृहस्थ-प्रवेश केवल खिलवाड़ के रूप में समझा जाने लगा। माता-पिता की सतत यह इच्छा बनी रहती है कि कब हम अपने पुत्र का विवाह शीघ्र-से-शीघ्र करके पुत्र-वधू को अपने घर में देखें। अथवा कब पुत्री का विवाह यद्वा-तद्वा करके निश्चिन्तता प्राप्त करें। परन्तु किस उद्देश्य से गृहस्थ में प्रवेश किया जाना चहिए, गृहस्थ में प्रवेश होजाने पर पुरुष और स्त्री का क्या कर्तव्य है ? तथा गृहस्थ-जीवन प्रारम्भ होने पर कितना भार एवं उत्तरदायित्व एक गृहस्थी पर होजाता है। इसका परिज्ञान न तो माता-पिता द्वारा सन्तान को कराया जाता है न सन्तान का ही लक्ष्य इस ओर जाता है और न इस विषय-सम्बन्धी शिक्षा का प्रबन्ध ही किसी विद्यालय में पाया जाता है। फलस्वरूप प्रारम्भिक अवस्था में ही नव-युवक विषय-वासनाओं में इस प्रकार संलग्न होजाते हैं कि अपने स्वास्थ्य को खो बैठते हैं और नाना प्रकार के क्षयी रोग इत्यादि में फँस कर उस दुर्लभ मनुष्य जन्म को भार स्वरूप मानने लगते हैं जो मनुष्य जन्म हमको सांसारिक सर्व दुःखों से निवृत्त कराके परम अतीन्द्रिय सुख के प्राप्त कराने में साधक है।

गृहस्थ में प्रवेश विषय-वासनाओं की तृप्ति के ध्येय को लेकर नहीं होना चाहिए। जो इस अभिप्राय से गृहस्थ में प्रवेश करते हैं वे कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि ऐसा व्यक्ति विषय-वासनाओं को तृप्त करने के लिये नाना प्रकार के साधन जुटाने में अपनी सर्व शक्ति लगा देता है और ज्यों-ज्यों साधन मिलते हैं त्यों-त्यों विषय-वासना वृद्धिगत होती चली जाती है। और यदि कर्मोदयसे इस विषयाभिलाषी प्राणी की इच्छानुसार साधन न बने तो इसके सम्मुख कष्ट-ही-कष्ट दीखते हैं। इस प्रकार विषय-वासना के साधन मिलने-न-मिलने रूप दोनों ही अवस्था में विषयोत्सुक जीव खेद-खिन्न रहता है। परन्तु जिस धर्म-बुद्धि मनुष्य की परणति विषय सेवन में औषधि सेवन के समान है उसको भोगों के साधन मिलने पर हर्ष नहीं होता और न मिलने पर वह विषाद नहीं करता। दोनों ही अवस्थाओं में न उसके शरीर को कुछ हानि पहुँचती है और न उसका आत्मा ही पतन की ओर अग्रसर होता है।

सन्तानोत्पत्ति के लिये गृहस्थ-जीवन में प्रवेश के भाव भी निर्मूल हैं। यदि सन्तानोत्पत्ति ही धर्म मान लिया जाय तो तिर्यञ्च पर्याय में धर्म की मुख्यता ठहर जाय। क्योंकि इस पर्यायमें सन्तान-उत्पत्ति की अधिक विशेषता है और तिर्यञ्चों में भी जो हीन जाति अर्थात् कूकरी-शूकरी हैं

उनके सन्तानोत्पत्ति की अधिकता पायी जाती है। अतः स्पष्ट है कि सन्तानोत्पत्ति से वास्तविक धर्म का किंचित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

आचार्यों ने सर्वश्रेष्ठ परिणति तो राग-द्वेष के सर्वथा त्याग को ही कहा है, जो मुनिवर में ही सम्भव है। परन्तु जो जीव प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में सर्वथा त्याग करने में असमर्थ हैं उनको धर्म-पुरुषार्थ के उद्यम में तो सदैव ही तत्पर रहने का उपदेश है और इसके लिये एक सहयोगी की आवश्यकता पड़ती है। उस सहयोगी के प्राप्त करने के ध्येय से गृहस्थ में प्रवेश होने का विधान है।

गृहस्थ में प्रवेश होजाने के पश्चात् स्त्री-पुरुष का कर्तव्य है कि दोनों ही अपने-अपने कार्य में दत्त-चित्त रह कर परस्पर सहयोग द्वारा धर्मरूपी रथ का सञ्चालन करें। स्त्री के कभी भी यह भाव न हों कि मैं पति की सेवा-सुश्रूषा क्यों करूँ? दूसरी ओर पुरुष भी कभी ऐसा विचार न करे कि मैं स्वामी हूँ और पत्नी का कार्य मेरे आधीन रह कर केवल मेरी सेवा करने का है। यदि स्त्री अपने पति को अपना तथा गृह का स्वामी मानती है तो पुरुष का भी कर्तव्य है कि वह अपनी पत्नी को गृह-स्वामिनी समझे और दासी की कोटि में न रक्खे। यदि एक का परिणमन किसी समय कारण वश धर्म के विमुख दीखे तो दूसरे का

कर्तव्य है, उसको जिस प्रकार भी हो धर्म में दृढ़ करे। जिनपूजा, मुनिदान आदि पुण्य-कृत्यों द्वारा दोनों ही धर्म का उपार्जन कर गृहस्थावास को सफल बनावें। इस प्रकार परस्पर सहायता देकर अर्थ-काम-पुरुषार्थ के साथ-साथ धर्म-पुरुषार्थ पर विशेष लक्ष्य रक्खें।

आज जो अर्थ और काम के नाम से सम्बोधन किया जाने लगा, वास्तव में अर्थ और काम-पुरुषार्थ का वैसा रूप नहीं है। केवल ज्यों-त्यों करके निरर्गलतया धन उपार्जन कर लेना तथा विषयभोगों में लिप्त रहना अर्थ और काम-पुरुषार्थ नहीं हैं। इन पुरुपार्थों को धर्म के विमुख समझ लेना बड़ी भारी भूल है। कर्मोदय से जैसा भी साधन मिला हो उसके अनुसार न्याय तथा धर्म के अविरुद्ध विशेष तृष्णा रहित जो द्रव्य का उपार्जन उसको अर्थ-पुरुषार्थ संज्ञा है और पूर्व पुण्योदय द्वारा प्राप्त हुई भोग-सामग्री के न्याय तथा धर्म के अविरुद्ध तल्लीनता रहित भोगोपभोग का नाम काम-पुरुषार्थ है। इस प्रकार इन दोनों ही पुरुषार्थों में धर्म-भावना का अभाव नहीं समझ लेना चाहिए। परन्तु धर्मानुकूलता इन दोनों पुरुषार्थों का प्राण है।

अपनी सन्तान को योग्य, सुशील एवं धर्मज्ञ बनाने का पूरा-पूरा भार माता-पिता पर है। मोह में फँस कर

सन्तान का केवल लालन-पोषण तो तिर्यञ्च अथवा अविवेकी पुरुष भी करते ही हैं फिर एक सद्गृहस्थ भी उन ही के समान आचरण कर अपनी सन्तान को धर्म-बुद्धि न बनावे तो उस गृहस्थ ने अपने ज्ञानी होने का क्या लाभ उठाया ? प्रायः यह कह दिया जाता है कि माता-पिता तो सन्तान के जन्म के साथी हैं, कर्म के साथी नहीं हो सकते। ऐसा कहना केवल अकर्मण्यता का चिह्न है। यदि यही सिद्धान्त मान लिया जाय तो पुरुषार्थ का लोप होजाय। सन्तान का व्यभिचारी एवं पापाचारी होजाने का उत्तरदायित्व माता-पिता को अपने ऊपर ही समझना चाहिए। सन्तान को ज्ञानवान एवं सदाचारी बनाने के लिये धार्मिक पुस्तकों का ज्ञान तो आवश्यक है ही परन्तु माता-पिता का स्वयं सद्बुद्धि एवं सदाचारी होना परमावश्यक है। माता-पिता के आचरण का प्रभाव सन्तान पर बिना सिखाये स्वतः ही विशेष रूप से पड़ता है जिस प्रकार माता-पिता की भाषा ही सन्तान की भाषा आप-से-आप होजाती है, उसी प्रकार माता-पिता का आचरण भी सन्तान पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। हम स्वयं हीनाचारी होते हुए अपनी सन्तान से सदाचारी होने की आशा रक्खें यह हमारी भूल है। इस लिये हम को अपना आचरण सदैव इस प्रकार निर्दोष एवं उज्ज्वल

रखना चाहिए कि वह दूसरों के लिये आदर्श होकर उनको सदाचारी बनाने में सहायक हो।

हमारे लाला जम्बूप्रसाद जी का दाम्पत्य-जीवन सन् १८९३ से प्रारम्भ हुआ। जब कि आपका विवाह श्रीमान् लाला महाराजप्रसाद जी तहसीलदार व रईस जमींदार सुल्तानपुर निवासी की सुपुत्री से हुआ। लाला महाराजप्रसाद जी के घराने को भी सुल्तानपुर (जिला सहारनपुर) में एक उच्च स्थान प्राप्त है। आपके पिता बाबू अजुध्याप्रसाद जी डिप्टी-कलक्टर थे। आपके दो पुत्र लाला जयप्रसाद जी तथा लाला जिनेश्वरप्रसाद जी रईस इस समय सुल्तानपुर में विद्यमान हैं। आप दोनों ही अँग्रेज़ी के उच्च कोटि के विद्वान होते हुए भी पाश्चात्य आचार-विचारों से वर्जित हैं। धार्मिक ज्ञान विशेष रूप से न होने पर भी आप दोनों ही असाधारण मन्दकषायी हैं। लाला जिनेश्वरप्रसाद जी ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे हैं। आपका भ्रातृत्व-प्रेम उस चरमसीमा तक पहुँचा हुआ है कि जिसकी तुलना दूसरे स्थान पर मिलनी कठिन है। आप दोनों की सरलता, सौम्य-प्रकृति एवं सौजन्यता ही आपके वंश की उच्चता की परिचायक है। आपकी इस रियासत के साथ वैसी ही घनिष्ठता और इस परिवार के साथ वैसी ही वत्सलता बनी हुई है। इस विवाह में

वरयात्रा के विस्तृत जलूस की शोभा आज तक भी जनता भूली नहीं है। वरयात्रा का इतना बड़ा जलूस बहुत कम देखने में आया होगा। इस प्रकार गृहस्थ-जीवन में पदार्पण कर दम्पति ने जिस उत्साह और क्षमता के साथ स्वपर सन्तोष एवं पातिवृत्य-धर्म का पालन किया, इस वर्तमान वायुमण्डल में ऐसे बड़े धनिक पुरुषों के लिये एक साधारण बात नहीं कही जा सकती। जिस प्रकार एक चतुर किसान बीज को बचा कर ही फल का भोग करता है, इसी प्रकार आपने भी गृहस्थ सम्बन्धी सुखों का भोग-उपभोग करते हुए कभी भी धर्म की अवहेलना नहीं की, प्रत्युत धर्म-कार्य के सम्मुख सांसारिक कार्यों को सदैव ही नीची दृष्टि से देखा। पूजन, स्वाध्याय के समय को आपने कभी गृहस्थ-कार्य में नहीं लगाया। बड़े-से-बड़े राज्य अधिकारी की दावत में कभी भी अखाद्य वस्तु का प्रयोग नहीं किया। जीवन पर्यन्त आपके हाथी को बड़े-से-बड़ा भी कोई व्यक्ति आखेट में प्रयोग नहीं कर सका। उपर्युक्त ज्वलन्त उदाहरण धर्मके सम्मुख सांसारिक कार्योंमें आपकी उपेक्षाके द्योतक हैं।

वैभव-वृद्धि

वैभव का अधिकतर सम्बन्ध दान से है। इन दोनों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वैभव से

दान देने की क्षमता प्राप्त होती है और दान के फल से वैभव का लाभ होता है। किन्तु सर्व ही वैभवशाली दानशील हों ऐसा एकान्त नहीं है। जिस प्रकार जल मछली को चलने के लिये उदासीन रूप से सहकारी है उसी प्रकार विभव भी दान देने में दानी पुरुषों के लिये सहकारी है। गृहस्थ की शोभा ही दान और विभव से है और विभव की सफलता दान से है। विभव की तीन ही गति हैं—दान, भोग और नाश। जिनमें दान को उत्तम, भोग को मध्यम और नाश को विभव की अधमगति कहा है। जिसने दान दिया नहीं, भोग में लगाया नहीं, उसका विभव किसी-न-किसी प्रकार नाश को ही प्राप्त होजाता है। या तो विभव ही अपने स्वामी को (दरिद्रता आजाने पर) छोड़ देता है या स्वामी ही मरण समय विभव को छोड़ कर चल देता है। जब इस विभव का नाश अवश्यम्भावी है तो विचारशील गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे उत्तम दान एवं न्याय पूर्वक भोगोपभोग में प्रयोग कर उसको सफल बनावें। इसके केवल रक्षक ही न रह कर दीन-दुखी जनों के उपकार में इसको लगावें। सर्व विभव को अपने ही भोग-विलास में न उड़ा कर कुछ धर्मायतनों का ध्यान रक्खें। इसको पाकर गर्वित होना तो एक सूख जाने वाले जलाशय के मेंढक की उछल-कूद

के समान है। विभव का समागम सर्वथा पुण्याधीन है। पुण्य क्षीण होजाने पर चक्रवर्ती भी पल मात्र इसको नहीं ठहरा सके तो ऐसी नाशवान एवं पराश्रित सम्पदा पर कौन विवेकी गर्व करेगा। अतः पुण्य के उदय में जो वैभव प्राप्त हुआ है उसको एक सद्-गृहस्थ के लिये निःगर्वतया एवं उदारता पूर्वक नवीन पुण्यार्जन करते हुए न्यायोचित भोग-साधन में लगाना उपयुक्त है।

हम पहिले कह आये हैं कि लाला मित्रसैन जी और लाला गङ्गाराम जी आपस में चचेरे भाई का सम्बन्ध रखते थे। लाला गङ्गाराम जी के लाला जम्बूप्रसाद जी आदि चार पुत्र थे और लाला मित्रसैन जी के कोई पुत्र नहीं था। लाला गङ्गाराम जी के दो भाई और भी थे। इस कारण उनकी पैत्रिक सम्पत्ति तीन भागों में विभाजित होचुकी थी और फिर उनका भाग उनके पुत्रों में विभाजित हुआ। परन्तु लाला मित्रसैनजी एकाकी पुत्र होने के कारण अकेले ही सर्व पैत्रिक सम्पत्ति के स्वामी हुए। लाला मित्रसैन जी के स्वर्गवास होजाने पर उनकी धर्मपत्नी अशर्फीकौर ने लाला जम्बूप्रसाद जी को सन् १९०० में अपना दत्तक पुत्र बनाया। इस पर कुटुम्बीजनों (लाला रूपचन्द्र जी तथा लाला हुलाशराय जी) की ओर से कितने ही वर्षों तक मुक़दमे चलते रहे। नीचे की अदालत

से गोद अनधिकृत ठहरा दिया गया, किन्तु हाईकोर्ट ने गोद को न्यायसङ्गत निश्चित किया और वह ही निश्चय प्रीवीकौंसिल तक स्थिर रहा। इस मुक़दमे ने जैनियों के लिये गोद के क़ानून को ही बदल दिया। ला० समन्दरलाल सुपुत्र लाला पन्नालाल सहारनपुर वालों ने भी एक मुक़दमा दायर किया था कि लाला मित्रसैन जी की दूसरी पत्नी ने उन्हें गोद लिया है। किन्तु एक लाख पन्द्रह हज़ार रुपया लाला समन्दरलाल ने नक़द् एक मुश्त लेकर अपने समस्त अधिकारों से सदैव के लिये छुट्टी पा ली। इस प्रकार लाला जम्बूप्रसाद जी लाला मित्रसैन जी की पूर्ण रियासत के स्वतन्त्र स्वामी होगये और आपने इस विभव को पाकर जिस प्रकार इसका सद्-उपयोग किया, उसका दिग्दर्शन यथास्थान इसी पुस्तक में कराया गया है।

कौटुम्बिक–जीवन

जिस कुटुम्ब के लिये यह पुरुष नाना प्रकार के झूठ-सच बोल कर रात्रि-दिवस कोल्हू के बैल के समान कष्ट उठा कर धन के साथ-साथ पाप भी सञ्चय करता है तथा उनका भरण-पोषण करता है। किसी कुटुम्बीजन के वियोग होने पर विलाप करता है। पुत्रादि के जन्म होने पर हर्ष मनाता है, उन कुटुम्बीजनों का संयोग ठीक उसी

प्रकार है जैसे विविध यात्रीगण संयोगवश किसी ठहरने के स्थान पर अथवा चलते हुए किसी नाव इत्यादि की सवारी में एकत्रित होजाते हैं और फिर यथायोग्य अपने-अपने स्थान-प्रति गमन कर जाते हैं। अथवा जैसे किसी एक वृक्ष पर रात्रि के समय अनेक पक्षी भेले होजाते हैं और फिर सवेरा होजाने पर अपने-अपने मनोनीत मार्ग से चले जाते हैं। कुटुम्बीजनों के इस अस्थायी संयोग को मोहवश हम ऐसा मान बैठते हैं कि जैसे यह समागम सदैव ऐसा ही बना रहेगा और अनेक अपने तथा दूसरे कुटुम्बीजनों का प्रत्यक्ष बियोग होते हुए देख कर भी हम अपने को तथा अपने इष्ट-जनों को अमर ही समझे बैठे रहते हैं। यह हमारी मत्त-जन जैसी क्रिया अनादि से गाढ़ मोह के संस्कार के कारण होरही है। किसी दृष्टि-अगोचर शास्त्र-सङ्गत विषय को अपनी विषय-वासना पुष्ट करने के लिये हम शीघ्र ही यह कह देते हैं कि जब हम देख ही नहीं सकते तो इसको कैसे मान लें? परन्तु यहाँ असंख्य जीवों का मरण साक्षात् देखते हुए भी हमारा उस ओर श्रद्धान नहीं जमता, यह कैसा दुराग्रह है? यदि हमारे श्रद्धान में यह बात बैठ जाय कि वियोग अवश्यम्भावी है तो कुटुम्बी-जन, परिग्रह तथा शरीर से हमारा ऐसा ममत्व न रहे कि हम भविष्य का ध्यान न रखते हुए सर्वथा

निर्विवेक होकर रात-दिन इन ही के अर्जन-पोषण में लगे रहें। अतः संसार के वास्तविक स्वरूप पर दृष्टि रखते हुए धर्म-बुद्धि पुरुष को चाहिए कि जब तक गृहस्थी का भार उसके ऊपर है, वह अपने आश्रित-जनों का पूर्णतया ध्यान रक्खे। परन्तु उनके ममत्व में विशेष रूप से फँस कर जन-साधारण तथा अन्य साधर्मी-जनों के प्रति अपने कर्तव्य को न भूल बैठे।

हमारे लाला जम्बूप्रसाद जी की गृहस्थी की जन-संख्या बहुत साधारण होते हुए भी आपके आतिथ्य-सत्कार एवं धर्म-वात्सल्य के कारण आपकी कोठी में चहल-पहल बनी ही रहती थी। धर्मात्मा-जनों से आपका स्नेह अपने कुटुम्बी-जनों सारिखा था। प्रातः और सायङ्काल दोनों ही बेला में अनेक साधर्मी-जन आपके साथ भोजन करते थे। विद्वानों तथा सच्चरित्र पुरुषों के प्रति जैसा लाला जी का प्रशस्त आदर भाव एवं आन्तरिक स्नेह था वैसा कहीं भी देखने में नहीं आता। अपने कुटुम्बी-जनों में भी आपका यथायोग्य अच्छा प्रीति-भाव था। आपका सदैव यह ध्यान रहता था कि मेरे निमित्त से किसी को कष्ट न हो। श्रीमती अशर्फीकौर भी जिन्होंने आपको गोद लिया था, आप पर विशेष स्नेह रखती थीं।

ला० मित्रसैनजी की दूसरी पत्नी श्रीमती रक्खीकुँवर तथा श्रीमती अशर्फीकौर का गोद लेने के लगभग सात वर्ष के अन्दर चार वर्ष के अन्तर से क्रमशः स्वर्गवास होगया। इससे पहिले सन् १९०४ में कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी का जन्म होचुका था। अतः उस समय लाला जी की गृहस्थी में आपकी धर्मपत्नी तथा कुंवर जी विद्यमान थे।

आपकी धर्मपत्नी भी धार्मिक कार्यों में आपसे पीछे नहीं थीं। उनका भी अधिकतर समय धर्म-साधन में ही व्यतीत होता था। प्रातः सायं दोनों काल जाप्य में बहुत समय लगाती थीं तथा स्वाध्याय में तो उनकी बहुत ही रुचि थी। प्रति दिन दो-दो घण्टे स्वाध्याय करके भी मन तृप्त नहीं होता था। जिनदर्शन के समय आप ऐसी भक्ति एवं संलग्नता से स्तुति-विनती पढ़ती थीं कि उसको सुन कर अन्य भव्यात्माओं का हृदय भी गद्‌गद् हो उठता था और भक्ति का श्रोत उमड़ने लगता था। प्रायः सम्पन्न घरों में ऐसा देखा जाता है कि भोजन इत्यादि के सर्व कार्य का आयोजन भृत्यगण ही करते हैं। वे चाहे जल छानें या न छानें। बीधे हुए अथवा अन्य वस्तु मिश्रित अन्न की शोधना हो या न हो, धनिक पुरुषों को उससे क्या लेना। उनको तो अपने भोग-विलास से ही अवकाश नहीं मिलता। भोजन का मन की शुद्धि से कितना सम्बन्ध है,

इसका उनको परिज्ञान ही नहीं। अशुद्ध भोजन से मुनियों के चित्त चलायमान होगये तो हम दीन गृहस्थियों का तो कहना ही क्या ? न्याय से अर्जन किये हुए धन द्वारा मात्र जन्तु की विराधना रहित शुद्ध क्रिया पूर्वक बनाया हुआ भोजन ही हमारे मन की शुद्धि में सहायक हो सकता है। आज-कल जो पुरुषों का चित्त चोरी तथा व्यभिचार इत्यादि दुष्कृत्यों की ओर विशेष रूप से चलता है इसका मुख्य कारण यह है कि हमारा ध्यान खान-पान की शुद्धता की ओर रञ्च मात्र भी नहीं रहा। नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में भी मुख्य कारण खान-पान की अशुद्धि ही है। भोजन की शुद्धि की ओर आपका विशेष ध्यान था। आप नित्य प्रति भोजन अपनी देख-रेख में निर्माण कराया करती थीं। अन्न इत्यादि स्वयं बीनती थीं। अतिथियों को भोजन कराने में आपका विशेष उत्साह था। आपका धर्म में गाढ़ प्रेम था और मरण के समय आपने सहारनपुर के प्रत्येक श्रीमन्दिर जी में एक-एक हज़ार रुपये तथा स्वर्ण के पूजन के बर्तन, सिंहासन, छत्र, चँवर इत्यादि चढ़ाये। इस प्रकार धार्मिक जीवन व्यतीत कर सन १९२२ में आप का स्वर्गवास होगया।

आपके (लाला जी की धर्मपत्नी के) स्वर्गवास होजाने से चार वर्ष पहिले कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी का

विवाह रियासत कोटा निवासी सेठ लक्ष्मीचन्द्र जी की सुपुत्री से होचुका था। इस विवाह में लाला जी ने सवालच रुपये से भी अधिक ख़र्च किया, जिसमें अधिकतर ख़र्च श्रीमन्दिर जी, आतिथ्य-सत्कार तथा भिक्षुक-जनों को दान देने में हुआ। विवाह सम्बन्धी प्रत्येक ही कार्य आपने बड़ी उदारता पूर्वक सम्पादन किया। लगभग सर्व ही स्थानीय उच्च अधिकारीगण एवं समाज के तथा शहर के प्रतिष्ठित महानुभाव बारात में पधारे थे। रियासत कोटा और इस प्रान्त के रीति-रिवाजों में बहुत कुछ भिन्नता होने के कारण बारातियों को कुछ असुविधायें अवश्य हुईं, परन्तु लाला जी ने उन असुविधाओं को दूर करने में कुछ कम प्रयत्न नहीं किया और उन असुविधाओं के सामने रुपये का कोई मूल्य नहीं समझा। फिर भी दूसरे स्थान पर तत्काल ही वैसा प्रबन्ध नहीं किया जा सका जैसा होना चाहिए था और इन असुविधाओं से लाला जी को बहुत खेद हुआ, जिससे उनके स्वास्थ्य पर भी बहुत प्रभाव पड़ा।

धर्मानुराग

प्रत्येक वस्तु का वास्तविक स्वभाव ही उसका निश्चय-धर्म है। शुद्ध आत्म-द्रव्य का स्वभाव ज्ञान-चेतना

मय है। चेतना एवं ज्ञान को विपरीत परिणमन कराने वाली जितनी भी क्रियायें हैं वे सर्व ही अधर्म हैं और इस संसारी जीव को ज्ञान-चेतना की ओर लेजाने वाली जितनी भी विशिष्ट क्रियायें हैं उन ही को व्यवहार-धर्म के नाम से कहा गया है। विषय-भोगों की वांछा के भावसे किये गये पूजा-दान इत्यादि को व्यवहार-धर्म कहना धर्म का उपहास करना है। व्यवहार-धर्म को निश्चय-धर्म से सर्वथा पृथक् जाति का समझना एक भारी भूल है। व्यवहार-धर्म तो निश्चय-धर्म का साधक है। पूजा-दान इत्यादि सत्कार्यों को करके विषय-भोगों की वांछा करने को तो आचार्यों ने निदान कहा हैं और निदान सदैव मिथ्यात्व के उदय में होता है और जहाँ मिथ्यात्व का उदय होता है वहाँ ज्ञान-चेतना-रूप परिणमन का सद्भाव असम्भव है। इस प्रकार विषय-भोगों की वांछा और धर्म दोनों में परस्पर विमुखता है। जिनेन्द्रदेव की आत्मलीनमुद्रा के दर्शन से तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति में तत्पर ऐसे वीतरागी मुनियों को दान देने अथवा उनकी सेवा-सुश्रूषा से तथा उनको आदर्श रूप में रख कर सामयिक जाप्य द्वारा स्वयं आत्मज्ञान की प्राप्ति-रूप अभ्यास करने से यह संसारी जीव ज्ञान-चेतना-स्वरूप निज स्वभाव की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। इस लिये इन विशिष्ट क्रियाओं को

ही व्यवहार-धर्म कहना शास्त्र-सङ्गत है। उत्तम क्षमादि दशधर्म, रत्नत्रय तथा दया आदि जो धर्म के नाना भेद हैं उनको भी व्यवहार-धर्म इस ही आधार पर कहा गया है। धर्म के प्रसाद से साता के उदय में प्राप्त हुई विषयभोग-रूप सामग्री में आत्मज्ञानी पुरुष का चित्त रञ्चमात्र भी नहीं लुभाता, और उस सामग्री का भोगोपभोग करता हुआ भी वह उसमें तन्मय नहीं होता। ऐसा प्रशस्त मन्दरागी पुरुष ही वास्तव में धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी है।

लाला जम्बूप्रसादजी जैसे उत्साही धर्मात्मा वर्तमान में विरलता से ही प्राप्त हो सकेंगे। आज भी उनके स्थान की पूर्ति नहीं होपायी है। आप नित्यप्रति बड़ी भक्ति पूर्वक पूजन करते थे। स्वाध्याय में आपकी विशेष रुचि थी। दो-दो घण्टे प्रति दिन स्वाध्याय करने पर भी आपका मन नहीं भरता था। स्वाध्याय करते समय आप किसी उच्च कोटि के विद्वान् को सदैव साथ रखते थे। सामायिक में आपकी शान्त मुद्रा एवं निश्चलता प्रशंसनीय थी। आज-कल प्रायः ऐसा देखा जाता है कि श्रीमन्दिर जी में पूजन, स्वाध्याय करते-करते घर के कार्य भी बीच-बीच में निमटाते रहते हैं जिससे प्रकट होता है कि पूजन तथा स्वाध्याय में ऐसे व्यक्तियों का उपयोग एवं आदर ही नहीं। उपयोग तो एक समय में एक ही स्थान पर

लगेगा। हम चाहते हैं कि घर के कार्य तथा भोग-विलास में रमण करते हुए ही धर्म उपार्जन कर स्वर्ग पहुँच जायें जिससे कि आगामी में भी हमारे भोग-विलास में कमी न आवे। परन्तु भोग-विलास और धर्म उपार्जन में तो परस्पर वैर है। भोग-विलास इच्छाओं का निवास स्थान है जबकि धर्मोपार्जन में निरीह भाव की मुख्यता है।

लाला जी के पूजन अथवा स्वाध्याय के समय में जब कभी कोई बड़े-से-बड़ा अधिकारी भी कार्य-वश लाला जी से मिलने आया तो उसको बिना मिले ही वापस लौटना पड़ा। धर्म-कार्य के समय में आपने कभी किसी आवश्यक-से-आवश्यक गृहस्थ सम्बन्धी कार्य से भी सम्पर्क नहीं रक्खा।

आपमें अनुकम्पा-भाव विशिष्ट रूप से था। आप दूसरों को कष्टापन्न देख कर यथासम्भव उसको दूर करने का प्रयत्न करते थे। जिस मुक़द्दमे को जीत कर आपने इतनी बड़ी रियासत प्राप्त की, उस जीत के उपलक्ष में जब आपके बड़े भाई लाला आत्माराम जी ने महफ़िल करायी तो आपने बहुत कुछ चाहा कि यह धर्मघातक व्यर्थ का आडम्बर न रचा जाय, परन्तु बड़े भाई के सम्मुख आपकी कुछ न चली। फिर भी आप उस कार्यसे पराङ्मुख ही रहे। आपने अपने बड़े भाई के सम्मुख महफ़िल कराने

से रोकने के लिये यह शब्द भी रक्खे थे कि इस महफ़िल से प्रतिपक्षी दल को जो हमारे ही भाई हैं, व्यर्थ के लिये क्यों आघात पहुँचाया जाय। इन शब्दों से ही आपकी मनोवृत्ति का पता चलता है कि आपको अपने निमित्त से दूसरों को खेद पहुँचना कितना असह्य था।

धार्मिक पुरुषों को प्रत्येक रीति से सहायता पहुँचाने में आपको विशेष आनन्द का अनुभव होता था। कहीं भी धार्मिक उलझन आ पड़ने पर तत्काल उस स्थान पर पहुँच कर सब कुछ ख़र्च करके भी उसको सुलझाने का प्रयत्न करते थे। तीर्थ स्थानों में आपका गाढ़ धर्मानुराग था। समीचीन एवं शुद्ध आम्नाय के आप दृढ़ पक्षपाती थे। वर्तमान में जो कुछ भोले जीव जाति-पाँति-लोप तथा विधवा-विवाह आदि निंद्य कर्म के प्रचार द्वारा व्यवहार शुद्धता को भी मेटने का प्रयत्न कर रहे हैं, इसके आप पूर्ण रूप से विरोधी थे। जहाँ भी आप पधारते थे वहाँ पर सबसे पहिले वहाँ के भाइयों से आपके यह प्रश्न होते थे कि पूजन, शास्त्र सभा का कार्य कैसा चल रहा है? कौन-कौन पूजन करते हैं, कौन-कौन भाई स्वाध्याय करते हैं? इससे ही अनुमान किया जा सकता है कि आपमें धर्म की भावना कितनी बढ़ी हुई थी। यों तो सत्कार्यों को करने से यश उत्तरोत्तर प्रसरित होता ही है, परन्तु आपने कोई भी

धर्म-कार्य यश की अभिलाषा से नहीं किया। प्रत्युत आप सदैव ही साधर्मी-जनों को गुप्त रूप से सहायता पहुँचाते रहते थे। सभा-संस्थाओं को अनेक प्रकार से सहायता पहुँचाते रहने पर भी आप पदाधिकारी बनने से सदैव बचते ही रहे। फिर भी समाज के बहुत आग्रह से अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के महामन्त्रित्व पद का भार आपको कुछ वर्षों के लिये लेना ही पड़ा। आज भी आपका नाम जैन-समाज में बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव, तीर्थराज सम्मेद-शिखर जी की रक्षा, विद्वत्प्रेम इत्यादि आपके अनेक धर्म-कार्यों का विवरण यथास्थान पुस्तक में दिया गया है, परन्तु आपके सर्व ही धार्मिक-कार्यों को सूची-बद्ध कर दिया जाय, यह सर्वथा असम्भव है। अधिक न कह कर अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आपका सर्व ही जीवन धर्ममय था।

विद्वत्प्रेम

परम पूज्य श्रीवीर भगवान् ने जो अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा जीव मात्र का उपकार किया वह तो वचनातीत है ही, परन्तु उनके पश्चात् अनेक जिनवाणी रहस्य के पारगामी आचार्यों ने जो सर्व जीवों के हितार्थ उस

वाणी को प्रसरित किया, उनका उपकार भी हम पर कुछ कम नहीं है। आज जो बड़े-बड़े ग्रन्थ उपलब्ध हैं, यह सब उन ही का उपकार है। समय के परिवर्तन के साथ २ ज्यों-ज्यों जीवों में ज्ञान की मन्दता बढ़ती गयी त्यों-त्यों उन उच्च कोटि के ग्रन्थों के समझने की सामर्थ्य जन-साधारण में कम होती गयी, तब अनेक आचार्यों ने तथा आचार्य तुल्य पण्डित टोडरमल तथा पण्डित दौलतराम सारिखे अनेक प्रकाण्ड विद्वानों ने इन महान् ग्रन्थों के भावों को सरल करके जो जनता का उपकार किया वह भी चिर-स्मरणीय है। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, ज्ञान की मन्दता बढ़ती गयी और बड़े उद्भट विद्वान् समय समय पर अनेक टीकाओं की रचना करते गये। कुछ समय पश्चात् इन टीकाओं को समझने वाले भी विरले रह गये, तब इन टीकाओं की भी टीकायें किये जाने की आवश्यकता होगयी, जिनकी रचना भी अनेक विद्वानों ने कीं। इस प्रकार वीर-मुखोत्पन्न वाणी का सार विद्वानों के अनुग्रह से आज भी हमको उपलब्ध है।

जब साधारण से किसी के सांसारिक उपकार को हम स्मरण रखना जानते हैं तो विद्वानों के उस परमोपकार को जो हमारी आत्मा के उत्थान का कारण हो, हम सर्वथा भूल जायें, यह कितनी कृतघ्नता है। यह

कह कर भी हम अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते कि वर्तमान में विद्वान् लोग चारित्रवान कम दीखते हैं, इस लिये उनका विनय-सत्कार कैसे किया जाय ? हमको तो गुणग्राही होने की आवश्यकता है । किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी के शरीर की विनय नहीं की जाती है । विनय-भाव की जागृति तो गुणों में होती है और गुणों के द्वारा ही गुणवान का व्यक्तित्व भी विनय योग्य होजाता है । किसी में गुणों का सद्भाव देखने मात्र से गुणग्राही का मस्तक उसके सम्मुख झुक जाता है । वास्तव में हमारे हृदय में गुणग्राह्यता के भाव ही नहीं रहे । हम थोड़े से अक्षर मात्र का पठन कर अथवा कुछ धन को प्राप्त कर अपने को सबसे उच्च मानने लगते हैं और इसी लिये हमारे हृदय से दूसरों के प्रति विनय के भाव उठ गये । यदि किसी विद्वान् में चारित्र की कमी है तो उसमें यह दोष अवश्य है परन्तु हम उसकी विद्वत्ता-गुण का विनय न कर स्वयं भी दोषी क्यों बनें ? हमको तो उसकी विद्वत्ता से लाभ उठाकर आत्म-कल्याण करना ही श्रेयस्कर है ।

यदि किसी को विद्वज्जनों के प्रति गुण की शिक्षा प्राप्त करनी है तो उसको एक बार लाला जम्बूप्रसाद जी की जीवनी पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है । आपको धर्म का कुछ साधारण बोध नहीं था, फिर भी एक

साधारण से विद्वान् में भी आपकी कितनी श्रद्धा थी कि उस भाव को उनके समय के अनुभवी पुरुष ही समझ सकते थे। किसी भी विद्वान् के अवलोकन मात्र से उनका हृदय इतना प्रफुल्लित हो उठता था कि हृदय का उल्लास बाहर छलकने लगता था। विद्वज्जनों की तन-मन-धन से सहायता करने को सदैव ही तत्पर रहते थे। विद्वानों को भी लाला जी पर बहुत अभिमान था। एक धनवान सज्जन जिन्होंने धार्मिक विद्या का भी अच्छा अभ्यास किया था और जो अपने समय में जैन-समाज के इने-गिने व्यक्तियों में से थे, व्यापार में मर्यादा से अधिक हानि होजाने के कारण लाला जी के पास सहायतार्थ आये। लाला जी ने तुरन्त दश हज़ार रुपये का चैक काट कर उनको दे दिया। ऐसे उदाहरण एक ही नहीं किन्तु उनका जीवन ही इस प्रकार के व्यापारों से पूरित था। प्रायः बड़े धनिकों के जीवन-चरित्रों में ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि उनके दान इत्यादि धर्म-कार्यों में व्यय हुई सर्व ही रक़म को एकत्रित कर दिखाया जाय जिससे उनकी दान-शीलता का प्रभाव दूसरों पर अच्छा पड़े और इस प्रकार दूसरे धनवान पुरुष भी उनका अनुकरण करने में प्रयत्नशील बनें, परन्तु लाला जी द्वारा धर्म-कार्यों में व्यय हुई कुल रक़म का जोड़ा जाना सर्वथा असम्भव है। हम पहिले कह आये हैं कि

यश की अभिलाषा से आपका कोई भी धर्म-कार्य नहीं होता था, इस लिये बहुत से कार्य इस प्रकार गुप्त रूप में होते थे कि उनके बिल्कुल ही निकट रहने वाले ही उनको जान सकते थे।

श्रीधवल जी आदि ग्रन्थराज के जो अब तक श्रीमूढवद्री के सरस्वती-भण्डार तक ही सीमित थे, इधर के प्रान्तों में भी दर्शन करा देने का श्रेय आपको ही था। यह आप ही का साहस एवं सदुत्साह था कि स्वयं मूढवद्री जी गये। सहस्रों रुपया खर्च करके श्रीगजपति शास्त्री तथा श्रीलोकनाथ जी शास्त्री द्वारा ग्रन्थराज की कर्नाटकी लिपि सहारनपुर में मँगाई और फिर मूढवद्री निवासी कर्नाटक, कनडी आदि भाषा के जानकार श्री पण्डित विजयचन्द्रैया जी व हिन्दी लिपि के सुन्दर लेखक पण्डित सीताराम जी द्वारा बहुत द्रव्य खर्च करके सहारनपुर में उनकी हिन्दी लिपि करायी। पण्डित सीताराम जी को शनैः शनैः कर्नाटकी लिपि का भी बोध होगया था और उन्होंने गुप्त रूप से एक प्रति अपनी पृथक् भी लिख ली। इधर के प्रान्तों में जहाँ भी आज यह ग्रन्थराज उपलब्ध हैं, उनकी उपलब्धि का आधार यह प्रति ही है। इस प्रकार इन ग्रन्थराज को बहुत प्रयत्नों से सहारनपुर मँगाने तथा उनकी हिन्दी लिपि कराने में लाला जी ने लगभग दश हज़ार से अधिक खर्च किया।

जगत् प्रसिद्ध अपने समय के सर्वोच्च विद्वान् नाना उपाधि विभूषित श्रीमान् न्यायदिवाकर पण्डित पन्नालालजी आप ही के पास रहते थे। आपके हृदय में पण्डितजी के प्रति बहुत अधिक विनय-भाव था और पण्डितजी को एक अच्छी मासिक रक़म पुरस्कार में देते थे। गम्भीर विद्वत्ता तथा ज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम होने के कारण पण्डितजी के तेजस्वी एवं दीप्तिमान् मुखमंडल का प्रभाव जन-साधारण पर इस प्रकार बैठा हुआ था कि जिधरको पण्डितजी निकल जाते थे उधरकी जनताकी दृष्टि इनकी ओर लग जाती थी। आप इतने कुशाग्र बुद्धि थे कि प्रश्न का प्रथम शब्द मुख से निकलते ही प्रश्नकर्ता के भाव को समझ जाते थे। एक समय में अनेक प्रश्नों की बौछार होते हुए भी सब प्रश्नों का बहुत सरलता पूर्वक बहुत थोड़े समय में उत्तर देकर प्रश्नकर्ताओं को सन्तुष्ट कर देना आपका असाधारण गुण था। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषय का निरूपण आप इस प्रकार से करते थे कि मन्दज्ञानी पुरुष भी उसको समझ कर तृप्त हो जाता था। श्रीमान् आचार्य उमास्वामी रचित श्रीतत्त्वार्थसूत्र जी की जो राजवार्तिक नाम की संस्कृत टीका श्रीअकलङ्कदेव महाराज ने की है, वह इतनी कठिन थी कि जिसको विशेष ज्ञानी ही समझ सकते थे। आपने उनको अपनी बुद्धि की

प्रखरता से ६० हज़ार श्लोकों में सुन्दर भाषा में रच कर इतनी सरल कर दी कि अल्प बुद्धि भी उसको सुगमतया समझ सकें। आपकी कथन-शैली ही इस प्रकार की थी कि बहुत सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व भी जन-साधारण के हृदय में प्रवेश करता चला जाय। वर्तमान में ऐसा देखा जाता है कि पण्डित-जनों को खण्ड-ज्ञान होने के कारण किसी विषय के सम्बन्ध में कहना पड़ जाता है कि हमारा विषय नहीं है, अर्थात् इस विषय को हमने अध्ययन नहीं किया। कोई व्याकरण में निपुण है तो कोई न्याय का विशेषज्ञ है। कोई वाद-विवाद एवं खण्डन-मण्डन की योग्यता रखते हैं तो किन्हीं का केवल पूजा-प्रतिष्ठा के विषय में ही अधिकार दीख पड़ता है। परन्तु पण्डित जी इन सर्व ही विषयों में सिद्धहस्त थे। आपका विशाल एवं उच्च ललाट तथा सतेज मुखाकृति ही आपके अद्वितीय गुणों की द्योतक थी। समाज में सर्वोच्च विद्वान् होने के कारण आपका बहुत सम्मान था और समाज ने आपको भिन्न-भिन्न अवसरों पर सम्मान सूचक अनेक उपाधियों से विभूषित किया था। उत्तरोत्तर ज्ञान का ह्रास होते जाने के कारण आज भी आपके स्थान की पूर्ति नहीं हो पायी है।

लाला जम्बूप्रसाद जी की सद्ज्ञान की प्राप्ति की ओर विशेष उत्सुकता थी और इस ही कारण आपको

विद्वज्जनों के समागम में रहना ही विशेष रुचिकर था। विद्वानों की गोष्ठी अपने समीप में सदैव बनाये रखने के लिये लाला जी सहस्रों रुपया वार्षिक व्यय करते थे। वर्तमान में अविवेकी जीवों की कुछ ऐसी परणति होगयी है कि यदि वे विद्वानों की आर्थिक सहायता कुछ कर देते हैं तो उनके साथ एक साधारण कर्मचारी सारिखा व्यवहार करने लगते हैं। उधर दूसरी ओर कुछ विद्वान् भी धन की लोलुपता में फँस कर अपनी मान-मर्यादा का उलङ्घन कर बैठते हैं। परन्तु विद्वान् और विद्वत्प्रेमी दोनों को यह बात हृदय से किसी समय में भी नहीं भुला देनी चाहिए कि किसी भी व्यक्तिगत कारण द्वारा विद्वत्ता का अनादर न होजाय। एक विद्वान् के अनादर का अर्थ ज्ञान की अविनय करना है। और यदि कोई विद्वान् अपने किसी असत् कृत्य द्वारा पद से गिरता है तो वह केवल अपना व्यक्तिगत बिगाड़ ही नहीं करता परन्तु वह अपने उस ज्ञान-गुण की अवहेलना करता है जिसकी फिर कोटि जन्म में भी प्राप्ति दुर्लभ है। किसी विद्वान् द्वारा सद्ज्ञान की प्राप्ति के फल-स्वरूप हम क्या पुरस्कार दे सकते हैं? ज्ञान-रत्न का मूल्य ही क्या हो सकता है? क्या चाँदी सोने के टुकड़ों से ज्ञान का मूल्य आँका जा सकता है? ज्ञान सारिखी अमूल्य निधि की प्राप्ति का प्रत्युपकार हम

आजन्म भी गुरु की तन-मन-धन से सेवा करके पूरा नहीं कर सकते। जो व्यक्ति कुछ द्रव्य खर्च कर सद्ज्ञान की प्राप्ति को एक सरल कार्य समझ बैठे हैं, अथवा जिन विद्वानों का धर्माध्यापन धन लालसा की पूर्ति पर ही निर्भर है उन्होंने वास्तव में सद्ज्ञान के महत्त्व को समझा ही नहीं। ज्ञानावरण के सातिशय क्षयोपशम से किसी महानुभाव को सद्ज्ञान-प्राप्ति हुई है तो उसका कर्तव्य है कि वह उस ज्ञान को धनोपार्जन का साधन बना कर ज्ञानावरण-कर्म का गाढ़ बन्ध न करे। प्रत्युत ज्ञान के विकास द्वारा अपना और दूसरों का कल्याण कर उसको सफल बनावे। दूसरी ओर शिष्य का भी कर्तव्य है कि वह कृतज्ञता पूर्वक अपने गुरु की तन-मन-धन से सेवा करने में आजन्म तत्पर रहे।

तीर्थ—भक्ति

इस संसार-समुद्र में अनादि-काल से पड़ा हुआ यह जीव नाना प्रकार जन्म-मरण के दु:ख उठाता हुआ भी उन्मत्त की नाईं, दु:ख को ही सुख मान मग्न होरहा है, इसमें इस अज्ञानी जीव का दोष ही क्या है? जिसने आत्मिक-सुख की झलक को भी कभी नहीं जाना वह उस ओर अग्रसर कैसे हो सकता है? यह तो अनादि-काल से

विषय-भोग रूपी काल्पनिक सुख को ही सुख समझता आया है और उस ही में मग्न हुआ विषय-वासनाओं की पूर्ति और अपूर्ति के अनुसार हर्ष-विषाद में लगा रहता है। परन्तु आश्चर्य तो उन बुद्धि-वैभवशाली व्यक्तियों की वृत्ति पर है जो आत्मा और पुद्गल को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से निरूपण करना तो जानते हैं और जीव-पुद्गल की भिन्नता का स्वयं अनुभव करने में एवं आत्मिक-सुख की प्राप्ति में सर्वथा निरुद्यमी बने रहते हैं। इस संसार-समुद्र से तिर कर पार होने के लिये अथवा वास्तविक आत्मिक-सुख की प्राप्ति के लिये इस कलि-काल में भी हमारे सम्मुख अनेक उपाय विद्यमान हैं जिनके द्वारा हम अपना कल्याण कर सकते हैं। भगवद्-भक्ति एवं उनके गुणों में निष्कपट, वाँछा रहित दृढ़ अनुराग वर्तमान समय में हमारे कल्याण का मुख्य कारण है, उन महात्माओं की चरणरज से पवित्र हुई भूमि की वन्दना भी उस भक्ति एवं धर्मानुराग का एक प्रधान अङ्ग है।

तीर्थ शब्द का अर्थ "घाट" ही इस भाव को प्रकट करता है कि जिस प्रकार एक घाट किसी नदी के पार होने में सहायक है उस ही प्रकार तीर्थ (पुण्यभूमि) की वन्दना भी हमको संसार-समुद्र से पार होने में विशेष सहायता करती है। जिस प्रकार राग-रङ्ग एवं विलासिता का स्थान

विकार-भाव उपजाने का निमित्त होता है उस ही प्रकार से पुण्य-क्षेत्र जिन पर से महान् आत्माओं ने महोग्र-तपश्चरण द्वारा केवल ज्ञान एवं मोक्ष पद प्राप्त किया— हमारे वीतराग-भाव की वृद्धि में प्रधान साधन है, उन पुण्य भूमियों के दर्शन मात्र से वीतराग-भाव का स्रोत उमड़ने लगता है और उन पुरातन कालीन ऋषियों के तपोविशेष का दृश्य सामने झलकने लगता है।

लाला जम्बूप्रसाद जी का तीर्थ स्थानों में कितना अनुराग था, यह इस ही बात से प्रकट है कि तीर्थराज श्रीसम्मेदशिखर जी के केस में आपने कई वर्षों तक श्रीमान् स्वर्गीय दान-शील एवं उदार हृदय लाला देवीसहाय जी रईस फ़ीरोज़पुर निवासी को साथ लेकर किस संलग्नता से कार्य किया। अपनी रियासत के कार्य में बहुत कुछ बाधा पड़ते हुए भी आप केस की पैरवी के लिये महीनों हज़ारीबाग़ इत्यादि स्थानों में ठहरे रहे। एक ओर आपकी धर्मपत्नी का ऑपरेशन जब कि लुधियाने में होरहा था, उस ही समय आप हज़ारीबाग़ में तीर्थराज सम्बन्धी मुक़द्मे की पैरवी में तल्लीन थे। गृहस्थ से विरक्ति एवं तीर्थ-भक्ति का कैसा अद्भुत ज्वलन्त उदाहरण है। इस ही मुक़दमे की पैरवी के समय पटने में गाड़ी के लौट जाने से

आपको बहुत चोट आई और आपके पैर की हड्डी टूट गयी। बहुत दिनों तक एक करवट लेटे रहना पड़ा। चलने की सामर्थ्य होने पर फिर उस ही तत्परता से मुक़द्मे की पैरवी में लग गये। केस के ख़र्च के लिये जब चन्दा एकत्रित किये जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हुआ तो परस्पर एक दूसरे को चन्दे की रक़म पहिले भरने के लिये कहने सुनने में बहुत देर होगयी तो आपसे उस समय मौन नहीं रहा गया। आपके उस समय के वचन हमको आज तक स्मरण हैं, आपने ५००००) चिट्ठे में भर कर अगाध भक्ति के स्रोत में रुद्ध-कण्ठ होकर यह शब्द कहे कि "पचास हज़ार तो मैं इस समय लिखता हूँ और यदि आगामी में और आवश्यकता पड़ी तो मैं अपनी सब स्टेट को भी तीर्थराज श्रीसम्मेदशिखर जी की रक्षा में लगा देने से पीछे नहीं हटूंगा।" आपकी इस भक्ति और उदारता के प्रभाव से उपस्थित सज्जनों में ही एक बहुत बड़ी रक़म चन्दे की एकत्रित होगयी। तीर्थराज में आपकी इस गाढ़ भक्ति का अनुभव करके समाज ने आपको "तीर्थ-भक्त-शिरोमणि" की उपाधि से विभूषित किया। आपने भारतवर्ष के लगभग सर्व ही तीर्थों की भाव पूर्वक वन्दना की और समय-समय पर तीर्थ-क्षेत्रों की तन-मन-धन से रक्षा करने से कभी पीछे नहीं हटे।

सामाजिक—जीवन

किसी एक ध्येय अथवा मार्ग में संलग्न जन-समूह की समाज संज्ञा है या दूसरे शब्दों में किसी धर्म-विशेष के अनुयायी जन-समुदाय को समाज के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इससे प्रकट है कि समाज का धर्म से बहुत सम्बन्ध है। धर्म के बहुत से साधारण नियम समाज के सदस्य होने के नाते ही पाले जाने आवश्यक होजाते हैं, परन्तु वर्तमान समय में ज्यों-ज्यों समाज का बन्धन शिथिल होता जारहा है, धार्मिक-वृत्ति भी पतन की ओर अग्रसर होती चली जारही है। इस अधःपतन का बहुत कुछ उत्तरदायित्व समाज के मुखियाओं पर कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। यद्यपि समाज के सर्व व्यक्ति एक ही समाज के सदस्य होने के नाते समान समझे और कहे जाते हैं, फिर भी कुछ विशेष गुणों के आधार पर प्रत्येक समाज में कुछ अग्रणी एवं मुखिया गिने ही जाते हैं और इन मुखियाओं के ऊपर ही समाज के सर्व कार्य का भार निर्भर रहता है। यदि समाज के अग्रणी पुरुष समाज के नियमों को पालने करने में तत्पर रहें तो साधारण सदस्यों का यह साहस ही नहीं होता कि वे नियमों का उलङ्घन कर सकें। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जहाँ

समाज के किसी मुखिया ने नियम-भङ्ग की ओर प्रवृत्ति की तो फिर बाँध टूट जाता है और फिर साधारण सदस्य भी उसका अनुकरण करने लगते हैं।

प्रत्येक सदस्य समाज का एक अङ्ग है। और जिस प्रकार शरीर का कोई छोटे-से-छोटा अङ्गोपाङ्ग भी दूषित होकर सर्व अङ्ग को पीड़ित कर देता है इसी प्रकार समाज के एक छोटे-से-छोटे सदस्य के सदोष चरित्र से सर्व समाज में एक छूत का रोग-सा प्रसरित होजाता है और एक बार प्रतिबन्ध भङ्ग होजाने पर फिर दूसरों को उस दोष से रोकना कठिन-साध्य होजाता है। इस प्रकार के छूत के रोग को रोकने का मात्र उपाय यह ही है कि पहिले तो उस सदोष सदस्य को दूषित चरित्र से हटाने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए, और यदि शक्ति भर प्रयत्न करने पर भी वह अपने दुश्चरित्र को नहीं छोड़ता है तो फिर समाज के शेष सदस्यों का कर्तव्य है कि जिस प्रकार शरीर के विषाक्त दूषित अङ्ग को पृथक् कर शेष अङ्गों की रक्षा की जाती है उस ही प्रकार उस दुश्चरित्र व्यक्ति से पृथक् रह कर अपनी रक्षा करें। किसी के अवगुणों की स्पर्धा न करके गुणों का अनुकरण ही श्रेयस्कर है। यदि समाज के किसी भी सदस्य का दुश्चरित्र उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जाय तो वह उस व्यक्ति तक ही सीमित नहीं

रहता, परन्तु उसका प्रभाव दूसरों पर क्रमशः बढ़ कर सर्व समाज ही पतन की ओर अग्रसर होने लगता है। जिस समाज के मुखिया लोग स्वयं उद्देश्य पालन में कटिबद्ध होते हैं तथा अन्य सदस्यों को नियम पालन में तन-मन-धन से सहायता पहुँचाने पर तत्पर रहते हैं वह ही समाज सजीव एवं उन्नत कहलाता है।

लाला जम्बूप्रसाद जी जैन-समाज के मुखियाओं में भी अग्रणी थे। केवल यू० पी० प्रान्त ही नहीं परन्तु पूर्व, मध्य तथा दक्षिण प्रान्त तक आपका नाम फैला हुआ था और इन सर्व ही प्रान्तों में आप बहुत प्रतिष्ठा एवं गौरव की दृष्टि से देखे जाते थे। सर्व ही प्रान्तों की जैन-समाज में जो कोई बड़ा कार्य उपस्थित होजाता था, उसमें सदैव आपका सहयोग रहता था। आप समाज के उद्देश्य एवं नियमों का पालन करने तथा कराने के कट्टर पक्षपाती थे। आपके सम्मुख नियम-भङ्ग की वार्त्ता भी कोई नहीं कर सकता था समाज के कार्यों में आप बड़ी उदारता से ख़र्च करते थे। कोई भी जैन आपके पास किसी कार्य के लिये जाता तो आप केवल जैन होने के नाते उसकी प्रत्येक प्रकार से सहायता करने के लिये तैयार होजाते थे। एक बार मेरठ निवासी मिस्टर प्यारेलाल बैरिस्टर ऐसेम्बली के इलैक्शन में खड़े हुए। बैरिस्टर साहब आपके पास इस

अभिप्राय से गये कि सहारनपुर ज़िले में आप मेरे लिए प्रयत्न करदें। आपने केवल जैन होने के नाते बैरिस्टर साहब के लिए भरसक प्रयत्न किया और सैकड़ों रुपया ख़र्च किया, उसके पश्चात् बैरिस्टर साहब अपने कार्य में सफल होगये तब जो कुछ ख़र्च हुआ था उसके ले लेने के लिए आप से बहुत कुछ आग्रह किया परन्तु आपने यह ही उत्तर दिया कि वह काम तो मेरा ही था मैं आपसे कैसा ख़र्च लूँ? आपको जैन मात्र से कितनी सहानुभूति थी वह इस छोटे से उदाहरण से ही प्रकट है। समाज के छोटे-बड़े सब ही व्यक्ति आपके नाम से परिचित थे और समाज को आप पर बहुत गौरव था। स्थानीय सामाजिक जीवन में सहारनपुर के लाला किशोरीलाल जी (सहोदर दयासिन्धु जयचन्द्र जी भक्त) की सम्मति भी आपको अधिक मान्य थी। इनसे हमारे लाला जी साहब की अधिक मित्रता थी।

राज्य-हित कामना

प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य स्थिरता राजा-प्रजा में परस्पर हित-कामना, प्रीति तथा प्रतीति पर निर्भर है। जिस प्रकार पानी में पड़ा हुआ बताशा ऊपर से थोड़े समय के लिये जैसे-का-तैसा दीखता हुआ भी क्षण भर में पानी के भीतर बैठ कर घुल जाता है

और अपने अस्तित्व को खो बैठता है, ठीक उस ही प्रकार वह राज्य जो केवल आतंक की पोली भित्ति पर ठहरा हुआ होता है, पोल के निकल जाने पर क्षण भर में अकस्मात् विलय को प्राप्त होजाता है। राज्य का हित राजा प्रजा के परस्पर वात्सल्य में अन्तर्निहित है। प्रजा के सुखी रहने पर ही राजा राज्य-सम्बन्धी वास्तविक सुख का अनुभव कर सकता है। जो राजा प्रजा पर नाना प्रकार के आतंक जमा कर तथा अपने भोगोपभोग की दृष्टि से विविध करों द्वारा प्रजा को कष्ट पहुँचा कर अपने को सुखी बनाना चाहता है उसने वास्तव में राजा-प्रजा के सम्बन्ध को समझा ही नहीं। राजा-प्रजा के बीच केवल शासक-शासनीय सम्बन्ध पर दृष्टि न रख कर रक्षक-रक्ष्य सम्बन्ध को ही प्रधान कोटि में रखना श्रेयस्कर है। राजा की शोभा प्रजा से है और प्रजा भी न्यायवान् राजा से ही सुशोभित होती है। जो राजा प्रजा का रक्षक न होकर भक्षक की कोटि में आजाय वहाँ राजा और प्रजा दोनों ही नष्ट होजाते हैं।

लाला जम्बूप्रसाद जी राज्य के उतने ही हितेच्छु थे जितने कि एक प्रजा को राज्य के प्रति होना चाहिए। आपने राज्य की ओर से कोई अधिकार या उपाधि प्राप्ति की ओर कभी दृष्टि ही नहीं की, और जब कभी राज्य-हित

का अवसर उपस्थित हुआ, आपने प्रत्येक प्रकार से राज्य की सहायता करने से कभी मुंह नहीं मोड़ा। पिछले युद्ध में आपने एक मुश्त ६००००) रु० वार लोन में प्रदान किये तथा इम्पीरियल रिलीफ फण्ड में ८०००) रु० की सहायता दी। और भी समय-समय पर नाना प्रकार के राज्य-सम्बन्धी चन्दा देने में कभी पीछे नहीं रहे। अधिकारी वर्ग में आप बहुत सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे।

वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव

यों तो वेदी शुद्धि एवं प्रतिष्ठा का विधान नाना प्रकार के मन्त्रों से ही सम्बन्धित है, फिर भी उसके साथ एक विराट् सम्मेलन एवं महोत्सव होने से एक ही कार्य अनेक धार्मिक व्यक्तियों के लिये पुण्य-सञ्चय का कारण बन जाता है। वर्तमान में इस प्रकार के सम्मेलन एवं महोत्सवों के भाव को इस प्रकार बिगाड़ दिया गया कि कुछ पुरुषों को इनके सम्बन्ध में यहाँ तक कहने का साहस होगया कि ऐसे कार्य सब व्यर्थ हैं और इनसे जनता को कोई लाभ नहीं पहुँचता। इन सम्मेलनों में हमने बहुत से गृहस्थ-सम्बन्धी कार्यों का समावेश करके धार्मिक महत्त्व को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इन महोत्सवों को हमने निरर्गल रूप से बाजार की चाट खाने तथा गृहस्थ-सम्बन्धी वस्तुयें

ख़रीदने का साधन बना लिया। विवाह-सम्बन्ध भी इन सम्मेलनों में ही निश्चित होने लगे। स्त्रियों के विशेष उच्छृङ्खलता से घूमने-फिरने का समागम भी इन सम्मेलनों में ही समझा जाने लगा।

यदि महोत्सव के वास्तविक भाव को दृष्टि में रख कर इसकी आयोजना की जाय तो सामूहिक रूप से पुण्य सञ्चय करने का साधन जनता को इन महोत्सवों द्वारा ही प्राप्त होता है। शुभ भावनाओं को लेकर बहुत से धर्म-प्राण सज्जनों के एकत्रित होने, परस्पर धार्मिक चर्चा वार्ता होने, धर्मोपदेश एवं भक्ति प्रदर्शन से जनता को जो लाभ पहुँचता है वह ही ऐसे महोत्सवों का वास्तविक ध्येय है।

इस ही ध्येय को लेकर लाला जम्बूप्रसाद जी ने अपने निज के श्रीमन्दिरजी में बहुत सुन्दर नवीन वेदी का निर्माण करा कर उसकी प्रतिष्ठा के साथ-साथ सन् १९२२ में एक महान् उत्सव की आयोजना की, जिसमें आपने २५०००) से भी अधिक ख़र्च किया। नगर के बाहर एक विशाल रमणीक मण्डप की रचना की गयी, जिसमें चारों ओर यात्रियों के ठहरने के लिये डेरे-तम्बू का प्रबन्ध किया गया था। बाहर से बहुत से यात्रीगण पधारे थे और धर्मोपदेश तथा धार्मिक नृत्य-गायन का प्रबन्ध सर्व विशेष

रूपसे किया गया था। बड़े-बड़े उद्भट एवं प्रकाण्ड विद्वानों को निमन्त्रण देकर एकत्रित किया गया था, जिससे जनता को विशेष धर्म-लाभ पहुँचा।

आतिथ्य-सत्कार

जिनके आगमन की पहिले से कोई तिथि अथवा समय निश्चित न हो, अपने घर पर ऐसे आये हुए पुरुषों की अतिथि संज्ञा है। और यथायोग्य स्थान देने तथा भोजन-पान इत्यादि कराने से उनके प्रति जो आदर एवं प्रीति-भाव का प्रकट करना है, उसको ही आतिथ्य-सत्कार नाम से कहा जाता है। अपना तथा अपने कुटुम्बी-जनों की उदर-पूर्ति एवं भरण-पोषण में तो सर्व साधारण-जन लगे हुए ही हैं और अपने गृह पर आये हुए अपने सम्बन्धी-जनों का भी सब पुरुष अपनी शक्ति अनुसार यथायोग्य सत्कार करते ही हैं, परन्तु केवल समाज एवं धर्म के नाते आगन्तुकों का आदर-सत्कार करने वाले पुरुष संसार में विरले हैं।

लाला जम्बूप्रसाद जी का धार्मिक पुरुषों के प्रति जैसा आदर-सत्कार का भाव था वैसा वर्तमान में कम

देखा जाता है । अतिथि को देखने मात्र से आपका मुख-कमल प्रफुल्लित हो उठता था। अपने साथ ही भोजन कराते थे। अतिथि के बहुत कुछ निषेध करने पर भी आप के गृह से बिना भोजन किये लौटना कठिन था। आपने कुछ ऐसा प्रवन्ध कर रक्खा था कि कोई भी बाहर का व्यक्ति श्रीमन्दिर जी में दर्शनार्थ पहुँचता था उस ही को भोजन करने के लिये वाध्य होना पड़ता था। एक बार ऐसा प्रसङ्ग आया कि हम लाला जी के साथ रसोई में जीमने गये। रसोई सम्बन्धी सेवक ने हमारे और लालाजी दोनों के हाथ-पैर धुलाये, परन्तु वह सेवक केवल लालाजी के पैर तौलिये से पौंछ कर रह गया। इस पर लालाजी ने जो उस सेवक को कड़ी दृष्टि से देखा तो वह काँप गया और वह हमारे पैरों की ओर भी तौलिया लेकर तत्काल आया। इन साधारण बातों से यह निष्कर्ष भली भाँति निकाला जा सकता है कि अतिथियों के प्रति लालाजी का आदर-भाव कितना बढ़ा हुआ था। साधारण पुरुषों के साथ आपका जब ऐसा व्यवहार था तो विद्वज्जनों एवं विशेष धर्मज्ञों के साथ आपका कैसा व्यवहार होगा, इसका अनुमान पाठक-जन स्वयं करलें। आपके सहोदर लाला दीपचन्द्र जी इस विषय में आपसे भी अधिक बढ़े हुए थे।

त्याग भाव

वाह्य पदार्थों को केवल प्रकट रूप से पृथक् करने को त्याग नहीं कहते। परन्तु आत्मा के निज स्वभाव के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में मूर्छा एवं ममत्व के छोड़ने को त्याग संज्ञा है। यदि वाह्य पदार्थों को समीप न रखने से ही किसी को त्यागी कहा जा सकता है तो वह धन-हीन दरिद्री पुरुष अथवा तिर्यञ्च इत्यादि जिनके पास लँगोटी तक भी नहीं, सबसे बड़े त्यागी कहलाने के अधिकारी होजायेंगे और भरत चक्रवर्ती सारिखे परम उदासीन एवं दृढ़ आत्म-ज्ञानी पुरुषों को बहु-परिग्रही कहना पड़ेगा। इससे स्पष्ट है कि त्याग-ग्रहण केवल वाह्य पदार्थों के दूर या निकट रहने पर निर्भर नहीं है, किन्तु पदार्थों में ममत्व का न करना ही वास्तविक त्याग है और वाह्य पदार्थों की समीपता ममत्व उपजाने के लिये एक मात्र कारण है। इस लिये आचार्यों ने उनसे भी अपने को यथा-शक्ति पृथक् रखने की शिक्षा दी है।

एक बड़े विभव के स्वामी लाला जम्बूप्रसाद जी गृहस्थ अवस्था में रहते हुए भी प्रारम्भ से ही कितने अलिप्त थे, इसका ज्ञान भली भाँति उन्हीं मनुष्यों को हो सकता है जो उनके सहवास में अधिकतर रहे हों।

पूर्व पुण्य-कर्मोदय से प्राप्त हुई सामग्री का उपभोग करते हुए भी आप उसमें तल्लीन नहीं थे। रियासत में कभी कोई विशेष हानि का अवसर प्राप्त हुआ तो आपके मुख पर कभी विषाद की छाया भी दृष्टि-गोचर नहीं हुई। आपका यह दृढ़ विश्वास था कि जब तक मेरा पुण्य मेरे साथ है तब तक यह सामग्री भी विद्यमान है और पुण्य क्षीण होने पर इस सामग्री को एक क्षण भर के लिये भी मैं अपने पास रोकने में असमर्थ हूँ। इस दृढ़ श्रद्धान के कारण ही आपमें सन्तोष की मात्रा विशेष रूप से थी। पहिले से चली आयी जमींदारी तथा दूकान-मकानों के किराये की आमदनी के अतिरिक्त आपने किसी लेन-देन या व्यापार द्वारा विशेष सम्पत्ति बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया। आपने अपनी धर्मपत्नी की उपस्थिति में ही ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया था, जो आपके विशिष्ट संयम-भाव का द्योतक है। वर्षा ऋतु में जीवों की विशेष विराधना होने के कारण आप चातुर्मास में बाग इत्यादि में घूमने भी नहीं जाते थे।

आप अपने जीवन में सतत् उत्तरोत्तर त्याग की मात्रा को बढ़ाते रहे, और दिल्ली में संवत् १९८० विक्रमी में जो बिम्ब-प्रतिष्ठा एवं पञ्च-कल्याणक महोत्सव हुए उसमें आप भी पधारे। उस महोत्सव के समय आपमें

वीतराग-भाव की जागृति विशेष रूप से हुई। आपने वहाँ पर बहुत से कड़े-कड़े नियम लिये और यावज्जीवन वनस्पति मात्र का भी उसी समय परित्याग कर दिया। उक्त प्रतिष्ठा में जन्म-महोत्सव के अवसर पर पांडुक-शिला पर अभिषेक उत्सव मनाने के लिये जब इन्द्र भगवत् को लिये हुए हस्ती पर आरूढ़ होकर चला तब उस हस्ती को आपने ही चलाया था। आपके दोनों ओर कन्धों पर चाँदी और सोने के पुष्पों से भरी हुई झोलियाँ लटकी हुई थीं। उन झोलियों से पुष्प-वर्षा तथा नेत्रोंसे आनन्दाश्रु की वर्षा करते हुए आपके आनन्द के प्रवाह का उस समय का दृश्य हम आज तक भी नहीं भूले हैं। उस अवसर की प्रभावना ने जन-समूह में भगवत् के साक्षात् कल्याणक जैसा भाव उत्पन्न कर दिया और उस ही समय से आपका संयम-भाव अतिशय रूप वृद्धिगत होता गया।

इन्द्रिय-विजय एवं संयम

इन्द्रियों का इन्द्रपना अर्थात् स्वतन्त्रता को नष्ट कर अपने आधीन करना, जितेन्द्रियता है। या दूसरे शब्दों में नाना प्रकार के अपने-अपने विषयों में दौड़ती हुई इन्द्रियों को उन विषयों में जाने से रोक लेना ही उन

पर विजय प्राप्त करना है और इन्द्रियों को उनके अनुकूल विषयों में उच्छृङ्खलता रूप प्रवर्तने देना इन्द्रियाधीनपना है।

इन्द्रिय-विजय को संयम और इन्द्रियाधीनता को असंयम के नाम से कहा जाता है। केवल बाह्य कारणों का विच्छेद कर देना ही संयम नहीं कहा जा सकता। जैसा कि कुछ अज्ञानी लोग कर्ण-छिद्रों तथा नासिक-पुटों में डाट ठोक लेने से ही तथा अन्य इन्द्रियों के बाह्य उपकरणों को नष्ट कर देने से अपने को संयमी कहलाना चाहते हैं। यदि ऐसा मान लिया जाय तो बहिरे-अन्धों को पूर्ण संयमी कहना पड़ेगा जो सर्वथा अयुक्त है। भेद-विज्ञान द्वारा विरागता उत्पन्न होने पर विषयों से उपयोग (भावेन्द्रिय) की निवृत्ति को ही वास्तव में संयम संज्ञा है और इस वास्तिविक संयम के साधनभूत अन्य क्रियाओं को भी संयम कह देने में कोई हानि नहीं पड़ती।

यद्यपि संयमी शब्द पूर्ण संयम-पालन की दृष्टि से मुनियों के लिये ही प्रयोग किया जाता है, फिर भी संयम का प्रादुर्भाव गृहस्थावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है। अव्रती सम्यग्दृष्टि भी स्वरूपाचरण-चारित्र की अपेक्षा से किसी अंश में संयमी कहलाने का अधिकारी है और अणुव्रती को तो देश-संयमी कहा ही जाता है। संयम की भित्ति ही स्वरूपाचरण की नींव पर रक्खी हुई है और

इस ही लिये स्वरूपाचरण-चारित्र बिना केवल बाह्य संयम का मोक्ष-मार्ग में कुछ महत्व नहीं। स्वरूपाचरण चारित्र में दृढ़ रहते हुए अपनी शक्ति के अनुसार संयम धारण तथा पालन में तत्पर रहना चाहिए। संयम के लिये बाह्य-वेष और अन्तरङ्ग-भाव दोनों की आवश्यकता रहते हुए भी अन्तरङ्ग-भाव को प्रधानता दी गयी है, क्योंकि अन्तरङ्ग-वीतराग-भाव ही संयम का सर्वस्व है और जिसके बिना संयम को निर्जीव कह दिया जाय तो इस में कोई हानि नहीं आती। जिस प्रकार किसी प्राणी की देह से जीव निकल जाने पर वह निर्जीव शरीर बाह्य रूप में कुछ समय के लिये पहिले के समान दीखता है, परन्तु कुछ समय पश्चात् उस में विकृति होना अनिवार्य है। इसी प्रकार अन्तरङ्ग-वीतराग-भाव बिना बाह्य-वेष संयमी का सा दीखता हुआ भी वह अधिक समय तक नहीं ठहर सकता और न उससे कुछ लाभ ही है। इस लिये ही वीतरागता को संयम-भाव का प्राण कहा गया है। ज्यों ज्यों परिणामों में वीतरागता की वृद्धि होती जायगी त्यों-त्यों बाह्य आडम्बर से भी परणति स्वयं हटती चली जायगी। अतः अन्तरङ्ग परिणामों की निर्मलता पूर्वक ही बाह्य-वेष संयम की कोटि में आ सकता है, अन्यथा उसको पाखण्ड ही कहना उपयुक्त है।

जीव की वर्तमान हीन संहनन तथा देश काल के प्रभाव को देखते हुए असाधारण शक्तियों की अपेक्षा रखने वाला मुनि-पद आधुनिक काल में यदि सर्वथा असम्भव नहीं तो कठिन-साध्य अवश्य ही कहा जायगा। जब श्रावक-व्रत के पालन में भी कठिनाई दीख पड़ती है तो मुनि-व्रत का समुचित पालन तो एक स्वप्न सारिखा मालूम पड़ता है। फिर भी किसी प्रशस्त कार्य को कठिन समझ कर उस में सर्वथा निरुद्यमी होजाना अकर्मण्यता का चिह्न है। यथाशक्ति धर्म के पालन में हम को उत्तरोत्तर उन्नति करने से बहिर्मुख नहीं होना चाहिए। यदि हम किसी व्रत को शक्ति-हीन होने के कारण अथवा देश काल का विपरीत समागम मिलते रहने के कारण धारण तथा पालन करने में असमर्थ हों तो उस व्रत की पालन-रूप भावना तो हमारे हृदय में सदैव जागृत रूप में बनी ही रहनी चाहिए। क्योंकि भावना के बनाये रखने में तो देश-काल सम्बन्धी कोई भी रुकावट पड़ने की सम्भावना नहीं हो सकती और हार्दिक भावना बने रहने से जब भी कारण-कलाप मिलने का सुयोग प्राप्त हो जायगा तब ही हम आत्म-कल्याण के मार्ग में अग्रसर हो जायेंगे। आधुनिक काल में भिक्षा-वृत्ति की सुविधा तो प्रायः नष्ट-भ्रष्ट सी होगयी। अतः घर में रहते हुए

ही सांसारिक झंझटों से जितना अपना परिणाम निराला रक्खा जाय, उतना ही श्रेयस्कर है।

लाला जम्बूप्रसाद जी इतनी बड़ी रियासत के स्वामी होते हुए भी सांसारिक झंझटों से कितना विरक्त रहना चाहते थे, इस का अनुमान उनकी दिनचर्या से भले प्रकार किया जा सकता है। दिन का पूर्वार्द्ध भाग तो सामायिक पूजन तथा शास्त्र-स्वाध्याय में लगाते थे। फिर भोजन करने के पश्चात् श्रीशास्त्र-सभा में बैठते थे। प्रायः आप स्वयं भी बाँचते थे। शास्त्र-सभा के बाद कुछ समय रियासत के कार्यों की देख-भाल करते थे, उस के अनन्तर उपवास के दिनों के अतिरिक्त अनेक साधर्मियों के साथ शाम की वेला में भोजन करते थे। इस समय भी धर्म-सम्बन्धी चर्चायें होती ही रहती थीं। रात्रि में भी चर्चा-वार्ता का अच्छा आनन्द रहता था। आप इन्द्रिय-विषयों के आधीन नहीं थे। पूर्वोपार्जित पुण्य के अनुसार पदार्थों का भोगोपभोग सब ही प्राणी करते हैं, परन्तु दृष्टि में भेद होता है। किसी की दृष्टि में धर्म की मुख्यता होती है, किसी की दृष्टि में विषय-भोग की प्रधानता रहती है और इस ही दृष्टि-भेद के अनुसार बंध में अन्तर पड़ जाता है। पदार्थों का भोगोपभोग इतना हानिकर

नहीं है जितना पर पदार्थों में आत्मीयता की कल्पना कर बैठना अहितकर है। आपने विषय-भोगों के सामने सदैव धर्म को मुख्य समझा। जितने भी इन्द्रिय-विषय हैं उन में से जिह्वा तथा उपस्थ-इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों पर विजय प्राप्त करना अतीव दुर्लभ है। जिस ने इन पर विजय प्राप्त कर ली उसके लिये अन्य इन्द्रियों को अपने अधिकार में करना बहुत सुगम है। आप ने शनैः शनैः जिह्वा-इन्द्रिय को इस प्रकार अपने वश में कर लिया था कि सरस-नीरस भोजन आपके लिये सब ही समान थे। आपने अन्त में बहुत से रस तथा बनस्पति मात्र का त्याग कर दिया था। धर्मपत्नी के विद्यमान रहते हुए यावज्जीवन ब्रह्मचर्य धारण कर आपने असिधारा-व्रत का पालन किया। विषयों का समागम न मिलने पर तो सब ही त्यागी बने हुए हैं, परन्तु इतना बड़ा विभव तथा सर्व प्रकार साधन रहते हुए भी इन्द्रिय-विषयों से विरक्त रहना एक साधारण कार्य नहीं कहा जा सकता है। पुराणों में बड़े-बड़े राजाओं का नाना प्रकार की उत्तम-उत्तम भोग सामग्री से विरक्ति का जो कथन किया गया है, आपने उस कथन को प्रत्यक्ष पुष्ट करके दिखला दिया।

स्वर्गवास

प्रत्येक प्राणी के लिये मरण अवश्यम्भावी है। प्राणी का जन्म होना ही इस बात की सूचना देता है कि एक दिन उस को मरण भी करना पड़ेगा और यह प्राणी जन्म दिन से ही मरण के सम्मुख प्रयाण करना प्रारम्भ कर देता है। परन्तु यह भोला जीव अनादि कालीन मिथ्यात्व के वशीभूत हुआ इस अकाट्य सिद्धान्त को भूल कर यह समझने लगता है कि मैं सदैव ऐसा ही बना रहूँगा। अनेक मित्रों एवं सम्बन्धियों का मरण तथा शरीर की उत्तरोत्तर निर्बलता एवं नाना प्रकार के रोगों से इस जीव को समय-समय पर चेतावनी मिलते रहने पर भी यह जीव मोह-निद्रा से जागृत न होकर दूसरों के मरण का तो शोक करता है, परन्तु अपने को भी इस ही मार्ग से जाना है, इस पर रंच-मात्र भी विचार नहीं करता और इस विवेक से रहित होने के कारण ही यह अविवेकी प्राणी पर-पदार्थों को इस प्रकार अपनाता है और उनकी रक्षा करता है कि वे मानो सदैव इसकी ही सम्पत्ति बनें रहेंगे। इस मूढ़-दृष्टि को यह ज्ञान ही नहीं रहता कि चक्रवर्ती को भी समय पूर्ण होने पर अपनी अपार सम्पत्ति छोड़ कर परलोक जाना पड़ता है। आयु, कर्म

पूर्ण होने पर संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो इस जीव को वर्तमान शरीर में रोक कर क्षण भर भी रख सके। उसको वह पर्याय छोड़ कर अन्य पर्याय में जाना ही होगा। यदि कोई जीव पर-उपकार में विशेष रत हो तो उस की ख्याति कुछ दिनों तक उस के मरण के बाद भी चलती है। परन्तु यह सब बातें इस जीव को संसार में ही परिभ्रमण कराने वाली हैं। इस जीव का वास्तविक कल्याण तो मरण के अभाव में ही है।

बहुत से भाई 'मरण और मोक्ष में क्या अन्तर है ?' ऐसा प्रश्न किया करते हैं। मरण और मोक्ष दोनों में ही प्राणों का नाश होने के कारण दोनों समान से दीखते हैं परन्तु यह दोनों परस्पर प्रति-पक्षी हैं। जहाँ मरण है वहाँ मोक्ष नहीं अर्थात् मरण के अभाव में मोक्ष है और मोक्ष के अभाव में मरण है। या दूसरे शब्दों में मरण के मरण को मोक्ष कहते हैं। जब तक हम मरण का सर्वथा अभाव करने में समर्थ नहीं तब तक हम को ऐसा प्रयत्न तो अवश्य रखना चाहिए, जिससे अधिक बार मरण न करना पड़े और यह प्रयत्न समाधि-मरण द्वारा ही फली-भूत हो सकता है और समाधि मरण द्वारा परलोक के लिये प्रयाण करने वाले जीव को अनुमान से स्वर्गवासी कहा जा सकता है।

समाधि-मरण का मुख्य अङ्ग सम-भाव है। समता विशिष्ट परिणाम सहित मरण को समाधि-मरण कहते हैं। मरण के समय समता-रूप परिणाम बनाये रखने के लिये सम्यग्ज्ञान पूर्वक काय और कषाय को सल्लेखन अर्थात् कृश किया जाता है। अतः इसको सल्लेखना-मरण भी कहते हैं। इस मरण में पर-पदार्थों से भिन्न-रूप आत्म-ज्ञान एवं विवेक-बुद्धि की मुख्यता है। इसलिये इसको पण्डित-मरण के नाम से भी कहा जाता है। काय तथा कषाय का एक दम कृश किया जाना दुःसाध्य है। अतः इनको क्रमशः कृश करने का विधान है। धर्म-प्राण पुरुषों का कर्तव्य है कि वे अपने समस्त जीवन में ऐसा प्रयत्न रक्खें कि काय-कषाय दोनों आत्मा पर अपना प्रभुत्व न जमा सकें। ऐसा अभ्यास सतत् बनाये रखने पर मरण समय परिणामों को समता-रूप रखने में बहुत सहायता मिलती है। यदि हमने जीवन के प्रारम्भ ही से शरीर को अपने आधीन रखने तथा कषायों के आवेश को रोकने का प्रयत्न नहीं किया है तो हम हीन शक्ति वाले व्यक्तियों के लिये अन्त समय में इन पर अधिकार प्राप्त करना बहुत कठिन है। परन्तु असाधारण विशिष्ट शक्ति रखने वाले पुरुषों के लिये ऐसा कोई नियम नहीं है। वे बिना पूर्व अभ्यास के भी तत्काल मरण

समय परिणामों को सँभाल कर अपना कल्याण करने में समर्थ होते हैं।

गृहस्थ के समाधि-मरण में एक प्रकार से मुनि बनने की भावना अन्तर्गत जागृत रहती है। और इस ही लिये एक गृहस्थी भी समाधि-मरण के समय वस्त्रमात्र का त्याग कर नग्नरूप होकर प्राण त्याग कर सकता है। ऐसा करने में कोई धार्मिक अड़चन नहीं है। अन्य परिग्रह के साथ क्रमशः भोजन, दुग्ध, तक्र तथा जल का त्याग भी समाधि-मरण का एक अङ्ग है। परन्तु इन बाह्य वस्तुओं का त्याग भी उस ही समय लाभदायक है जब कि अन्तरङ्ग में भी उन पदार्थों से रागादि की मात्रा अत्यन्त क्षीण पड़ जाय। बिना अन्तरङ्ग मल के दूर हुए केवल बाह्य-रूप से पर-पदार्थों को पृथक् कर देने से परिणामों में उज्ज्वलता नहीं आती और न ऐसा छोड़ना वास्तविक त्याग की कोटि में गिनाया जा सकता है।

हमारे लाला जम्बूप्रसाद जी ने अपने जीवन में रागादि की मात्रा को विशेष रूप से घटा दिया था और मरण समय में तो आपका अनुराग सर्व बाह्य पदार्थों से अत्यन्त ही क्षीण पड़ गया था। आप का स्वर्गवास तारीख़ १० अगस्त सन् १९२३ में हुआ। अन्त समय तक

आपने अपने जीवन में ली हुई सर्व ही प्रतिज्ञाओं का पालन किया। अनेक विद्वानों का समागम रहने के कारण आप अन्त समय तक धर्म-श्रवण करते रहे। व्रत-उपवास अधिक रखने के कारण आपका शरीर बहुत कृश होगया था। इस पर भी आपकी सतेज आकृति आपके उत्कृष्ट आत्म-बल की द्योतक थी। पहिले से किये गये अभ्यास द्वारा कषाय विशेष रूप से मन्दता को प्राप्त होगयी थी। मरण से दो दिन पहिले आपने सायङ्काल के समय अपने कुलप्रदीप सुपुत्र प्रद्युम्नकुमार जी को अन्त में शुभाशीर्वाद देकर अपने पास न आने का आदेश दिया और उसके पश्चात् मौन सहित लेटे रह कर आत्म-मनन में रत रहे। तारीख़ ९ की सायङ्काल से आपने औषधि एवं जलादि का भी परित्याग कर दिया। तारीख़ १० की सुबह १० बजे आपने कहा कि कपड़े बदल दो और पृथ्वी पर शयन करा दो। इस पर कपड़े बदले गये और इस ही समय आपकी पवित्रात्मा इस नश्वर शरीर को छोड़ कर परलोक के लिये प्रयाण कर गयी। मरण के समय भी अन्तरङ्ग भावों में वीतरागता की झलक आपमें प्रत्यक्ष दिखायी पड़ती थी और अन्त समय तक आपकी मुखाकृति शान्ति-मय एवं सौम्य बनी रहीं। आपके सुमित्र लाला धूमसिंह जी जिनका सदैव से आपके साथ सहवास रहा

था, मरण समय भी आपके समीप थे और उन्होंने नाना प्रकार धर्म-श्रवण करा कर आपके परिणामों को सावधान रख कर वास्तविक मित्रता का परिचय दिया ।

पुण्य सञ्चय करने वाले व्यक्ति को तो अपने पुण्य से विविध प्रकार के सांसारिक सुखों की प्राप्ति होती है । परन्तु सातिशय पुण्यात्मा का पुण्य दूसरों को भी साता पहुँचाने में सहकारी होता है । ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं कि एक विशिष्ट पुण्यात्मा के सहारे बहुत से जीवों को लाभ पहुँच जाता है । परमपूज्य परमोत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति के स्वामी श्रीतीर्थङ्कर भगवान् के जन्म समय संसार के सर्व ही प्राणियों को कुछ क्षणों के लिये साता प्राप्त हो जाती है । इस ही प्रकार किसी पुण्यात्मा के वियोग हो जाने से और उसके पुण्य का प्रभाव विघट जाने से अन्य हीन-पुण्यी प्राणियों को नाना प्रकार दुःख एवं कष्ट सहन करने पड़ते हैं ।

लाला जम्बूप्रसाद जी जैसे पुण्यात्मा के स्वर्गवास होने के १४ दिन पश्चात् ही सहारनपुर नगर में जो क्रान्ति का दृश्य तारीख २४ अगस्त सन् १९२३ को उपस्थित हुआ था, उसके स्मरण मात्र से आज भी हृदय कम्पित होजाता है । सर्व नगर में आतङ्क-ही-आतङ्क छा गया । घरों से बाहर निकलना कठिन होगया । बहुत लूट-मार होती

रही। बहुत से व्यक्तियों को शारीरिक तथा आर्थिक हानियाँ भी उठानी पड़ीं।

संसार के सर्व ही सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में स्वार्थ की भित्ति पर टिके हुए हैं। क्योंकि स्वार्थ रूप भित्ति खिसक जाने पर उसके आधार से ठहरे हुए सम्बन्ध भी तत्काल छिन्न-भिन्न होते हुए दीखते हैं। सर्व कुटुम्ब में आज जिसका सम्मान है, गृह-सम्बन्धी सर्व कार्य जिसकी आज्ञा पर निर्धारित है वह ही मुखिया आजीविका से भ्रष्ट एवं निर्धन होजाने पर सर्व कुटुम्ब की दृष्टि में किस प्रकार गिर जाता है ? कार्य-कुशल और अकर्मण्य पुत्रों के प्रति एक ही माता के स्नेह में परस्पर कितना अन्तर होजाता है ? इन दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सम्बन्ध प्रायः किसी-न-किसी अंश में स्वार्थ पर निर्भर है परन्तु फिर भी किसी सम्बन्ध में स्वार्थ के अधिक अंश और किसी में कम अंश पाये जाते हैं। माता-पिता का जो पुत्र के साथ सम्बन्ध होता है उसमें स्नेह की अपेक्षा स्वार्थ के अंश बहुत कम होते हैं।

लाला जम्बूप्रसाद जी ने अपने सतत अभ्यास से मोह-भाव को विशेष रूप से क्षीण कर डाला था। *फिर भी एक मात्र सन्तान होने के कारण पुत्र-स्नेह के स्रोत को वे सर्वथा शुष्क नहीं कर सके थे। उन्होंने*

अपने पुत्र कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी को बड़े स्नेह से पालन पोषण किया और उनको सर्व योग्य बनाने का प्रयत्न किया तथा धर्म-भावनाएँ इस प्रकार उनमें समावेश करदीं कि स्वप्न में भी अधर्म की ओर उनकी प्रवृत्ति न हो सके। खान-पान तथा पहिराव के सम्बन्ध में तो प्रत्येक व्यक्ति का अपने पुत्र के प्रति अनुराग विशेष होता ही है परन्तु अपनी सन्तान में सच्चारित्रता के अङ्कुर जमा देने वाले माता-पिता विरलता से पाये जाते हैं। कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी की शिक्षा अभी पूर्ण भी नहीं हो पायी थी कि लाला जी का स्वर्गवास होगया। फिर भी आपने रियासत के कार्यों को किस योग्यता के साथ सँभाला और उसकी उन्नति की उसही का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जायगा।

कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी

आपका जन्म तारीख़ ७ जून सन् १९०४ को हुआ। लाला जम्बूप्रसाद जी अपनी २७ वर्ष की अवस्था में इस वैवाहिक जीवन-रूपी वृक्ष के प्रथम फल को पाकर कितने हर्षोत्फुल्ल हुए इसका अनुमान प्रत्येक पुरुष अपने अनुभव से स्वयं कर सकता है। क्योंकि अनुभव का विषय लेखनी के द्वारा ज्यों-का-त्यों प्रगट करना कठिन



जैन धर्म महारथी

रायसाहब लाला प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर

ही नहीं परन्तु असम्भव है। यद्यपि आपका जन्म ऐसे समय पर हुआ जब कि रियासत की प्राप्ति वा अप्राप्ति का प्रश्न न्याय की तुला पर चढ़ा हुआ था और सर्व ही परिवार विशेष चिन्ता-ग्रस्त था, फिर भी आपके जन्म ने सब परिवार में एक अभूत-पूर्व आनन्द की लहर पैदा कर दी और आपका जन्मोत्सव बहुत ठाट के साथ मनाया गया। जन्म के समय आपका देह बहुत दुर्बल एवं क्षीण था। उधर आपकी माता जी कुछ स्वस्थ न थीं, इसलिये मथुरा से तत्काल देवकी नामक धाय को बुलाया गया और उस ही के द्वारा शिशु अवस्था में आपका पालन-पोषण हुआ। यह धाय बहुत सीधी और निर्लोभी थी। आज-कल की जो धाय हैं उनसे सर्वथा विपरीत स्वभाव वाली थी। इसने अपने ही बच्चे के समान कुँवर जी को पाला और अपने स्वास्थ्य की भी अपेक्षा न रख कर बहुत यत्न पूर्वक अपने कार्य का सम्पादन किया।

खंडेलवाल समाज में अब भी अधिकतर यह प्रथा चली आती है कि उनका छोटे-से-छोटा बच्चा भी रात्रि को अन्न नहीं खाता। हमारा एक ऐसे खंडेलवाल वंश से परिचय है जिसके सर्व ही व्यक्ति धर्म से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, फिर भी वंश परम्परा से उनके यहाँ दुध-मुँहा बच्चा भी

रात्रि को अन्न नहीं खाता। अग्रवाल समाज में यह प्रथा साधारणतया दृष्टि-गत नहीं है। फिर भी किसी विशेष धार्मिक वंश में इसका अनुकरण कहीं-कहीं पाया भी जाता है। कुंवर प्रद्युम्नकुमार जी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण स्वरूप हैं जिन्होंने अपने जन्म समय से रात्रि में अन्न ग्रहण नहीं किया। विवेक-बुद्धि जागृत होने पर तो रात्रि-भोजन की ओर से स्वयं ही रुचि हट जाती है। परन्तु शिशु एवं बाल्यावस्था में इसका पालन विवेकी माता-पिता पर ही निर्भर है। एक बार आपको पांच छः वर्ष की अवस्था में तीव्र ज्वर चढ़ा जो दो दिन तक बराबर बना रहा। तीसरे दिन सायङ्काल जब ज्वर का प्रकोप कम हुआ तो आपको भूख लगी। आपने जब खाने के लिये बहुत आग्रह किया तो आपकी माता स्नेह-वश खाना बना कर लायीं। परन्तु खाना देने से पहिले धर्म-भीरु माता के मुख से यह शब्द निकल ही गये—"बेटा रात्रि होगयी है।" आपने इन शब्दों को सुन कर खाना नहीं खाया। सन्तान की इतनी छोटी अवस्था में इस प्रकार की धर्म-दृढ़ता होने का श्रेय दृढ़ श्रद्धान-युक्त माता-पिता को ही है। जिन आचार-विचारों के बीच सन्तान का पालन-पोषण होता है वैसे ही आचार-विचार उसमें दृढ़ता पकड़ जाते हैं।

केवल सात वर्ष की अवस्था में आप अपने ताऊ लाला आत्माराम जी के साथ मसूरी पहाड़ पर चले गये। आप लगभग छः महीने तक वहाँ रहे। इन दिनों आपकी माता स्नेह-वश बहुत चिन्तित रहीं। आपने मसूरी रह कर अश्वारोहण विद्या का छोटी अवस्था में ही बहुत अच्छा अभ्यास कर लिया। आप उस समय साहबी पोशाक में रहा करते थे। आपके ताऊजी ने नौकरों के साथ जाकर बाज़ार से सामान ख़रीद लाने का भार भी आप पर ही डाल दिया। इस प्रकार अनेक बाह्य पुरुषों के सम्पर्क का निमित्त मिलने के कारण आपका हृदय विशेष रूप से विकसित हुआ, जो सहारनपुर में कोठी की चारदीवारी के अन्दर रह कर होना कठिन था।

माता जी का आप पर कितना स्नेह था, यह इन ही बातों से प्रकट है कि अनेक सेवकों के होते हुए भी माताजी स्वयं भोजन बना कर आप को खिलाती थीं। पाठशाला में किसी दिन कुछ अधिक समय लग गया तो द्वार पर खड़ी बाट जोहा करती थीं। जितने दिनों आप मसूरी रहे, आप की ओर की चिन्ता में माताजी का शरीर बहुत क्षीण पड़ गया। संसारी जीवों का अपनी एक मात्र सन्तान में इस प्रकार गाढ़ स्नेह होना स्वाभाविक ही है।

सन् १९१२ में आपकी शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। आपका विद्यार्थी जीवन एक प्राचीन-कालीन संस्कृत पाठशाला के छात्र के समान बहुत सादा था। जिसने एक बार आपको साहबी ठाट में मसूरी पहाड़ पर देखा हो, उसका इस छात्र अवस्था में आपको तुरत पहिचान लेना एक कठिन कार्य था। सब प्रकार के वाहनों का साधन होते हुए भी आप पाठशाला बराबर पैदल जाते थे और प्रातःकाल पैदल ही घूमने जाते थे। आपका सादा पहिराव, शिर के साधारण बाल, देशी जूता इत्यादि पूर्व-कालीन छात्र की वेश-भूषा का स्मरण कराते थे। वर्तमान काल में संस्कृत पढ़ने वाले छात्र भी वेश-भूषा में अँग्रेज़ी पढ़ने वाले छात्रों से कम नहीं रहना चाहते और उन की ही स्पर्धा कर के शिर पर बालों का एक चबूतरा-सा बनाये रखते हैं, और जब कुछ बाल नीचे को खिसक कर आँखों तक आने लगते हैं तो उनको गर्दन के झटके से प्रति क्षण शिर की ओर ढकेलने का प्रयत्न करते रहते हैं। बहुत कुछ खोज करने पर भी हम यह ज्ञात नहीं कर सके कि यह फैशन किस देश से निकला और इसमें क्या लाभ सोचा गया। अब से कुछ दिन पहिले सर्व ही छात्र शिर पर उतार-चढ़ाव के बाल न रख कर साधारण बाल रक्खा करते थे और गर्मी के दिनों में उनको भी बहुत कम करा दिया

करते थे। यदि कोई इससे विपरीत घने वा असाधारण बाल रखता था तो जनता उसमें विलास-प्रियता के दोष का सन्देह करने लगती थी। परन्तु अब जन-साधारण में विलासिता की मात्रा विशेष होने के कारण पहिले जो दोष समझा जाता था अब वह सर्व जन-ग्राह्य होगया।

आपको सर्व प्रथम हिन्दी और संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ कराया गया और साथ-साथ धार्मिक ग्रन्थों का भी पठन चला। सन १९१२ से १९१८ तक आपने अनेक संस्कृत तथा धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। व्याकरण में मध्यमा की योग्यता प्राप्त की। इसके पश्चात् अँग्रेजी पर अधिक जोर रक्खा गया। काशीराम हाई स्कूल के हेड मास्टर मिस्टर मुकर्जी B. A. L. T. आपके अँग्रेजी के शिक्षक थे। मैट्रिक परीक्षा का फ़ार्म भेजा जा चुका था, परन्तु माता जी की बीमारी के कारण परीक्षा नहीं दे सके। दूसरे वर्ष सन् १९२३ में पिता जी बीमार रहे और उस ही वर्ष उनका स्वर्गारोहण होने के कारण रियासत का सर्व कार्य सँभालने के साथ-साथ अध्ययन कार्य छूट गया। स्थानीय लाला अर्हदास जी, लाला शान्तिप्रसाद जी तथा बाबू प्रकाशचन्द जी इत्यादि आपके सहपाठी रहे। इस अध्ययन-काल में धार्मिक शिक्षण तथा आचार-विचारों पर सदैव ही पूर्ण ध्यान रक्खा गया। पूजन, स्वाध्याय,

शास्त्र-सभा तथा पर्व के अवसर पर धर्म-कार्यों में बराबर यथा-सम्भव आप भाग लेते रहे। आपका विवाह सन् १९२० में सेठ लक्ष्मीचन्द जी कोटा निवासी की सौभाग्यवती पुत्री कञ्चनबाई से होचुका था। सन् १९२३ में पिताजी के स्वर्गवास होजाने के पश्चात् स्वतन्त्र रूप से आपको गृहस्थी का भार सँभालना पड़ा और यहाँ से ही आपका विद्यार्थी जीवन समाप्त होकर कौटुम्बिक जीवन प्रारम्भ हुआ। धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन बाद में भी आप का चलता रहा। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त होजाने पर विलासिता की गन्ध भी आपके चारित्र में प्रवेश नहीं कर सकी और आपका रहन-सहन उसही प्रकार सादा रहा जैसा कि लाला जी के सामने से चला आता था।

प्राकृतिक नियमों का विधान भी हम को यह शिक्षा देता है कि हम अपने रहन-सहन को सादा रक्खें। प्राणों की स्थिति के लिये लोक में जो सब से आवश्यक पदार्थ हैं वह बहुत सुलभता से प्राप्त होते दीखते हैं और जो कम आवश्यक अथवा अनावश्यक हैं उनकी प्राप्ति भी उत्तरोत्तर दुर्लभ है। उदाहरण स्वरूप प्राणियों के जीवन के लिये सबसे अधिक आवश्यक पदार्थ वायु है जो बिना किसी मूल्य के स्वतः प्रत्येक प्राणी को मिली हुई है। पानी भी जीवन के लिये कुछ कम आवश्यक नहीं, फिर भी वायु

से इसका महत्व कम है। क्योंकि पानी के बिना प्राणी कुछ काल व्यतीत कर सकता है, जब कि वायु के बिना एक क्षण भी जीवित रहना असम्भव है। इस ही लिये वायु से पानी की प्राप्ति कुछ अंशों में दुर्लभ है। पानी के लिये उठने, चलने, खोदने इत्यादि का कुछ उद्यम करना पड़ता है जबकि वायु किसी प्रकार के उद्यम की अपेक्षा नहीं रखता। अन्न के बिना भी जीवन की स्थिति नहीं रह सकती। परन्तु पानी से अन्न का महत्व इस लिये कम है कि अन्न के बिना मनुष्य अधिक दिनों तक जीवित रह सकता है, जब कि पानी के बिना अधिक दिनों तक स्थिति रहना असम्भव है और इस ही लिये अन्न की उत्पत्ति के लिये विशेष परिश्रम की आवश्यकता है। इस ही प्रकार जो पदार्थ उत्तरोत्तर कम आवश्यक हैं उनकी प्राप्ति भी उत्तरोत्तर दुर्लभ होती चली गयी है। रत्न इत्यादि जो प्राण स्थिति के लिये सर्वथा अनावश्यक हैं, उनकी प्राप्ति भी अतीव दुर्लभ है। जीवन की जोखम उठा कर अगाध समुद्र में गोता मार कर ही कभी कोई प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार संसार में अतीव आवश्यक पदार्थ सहज-प्राप्य और कम आवश्यक अथवा अनावश्यक पदार्थ कठिन-प्राप्य हैं। इन प्राकृतिक सिद्धान्तों से हमको यह शिक्षा मिलती है कि हम अपने जीवन-निर्वाह का लक्ष्य

सहज-प्राप्य विशेष आवश्यक पदार्थों तक ही सीमित रक्खें और अनावश्यक पदार्थों की ओर अपनी दृष्टि न डालें। हमारे कुँवर जी की आवश्यकतायें तथा इच्छायें बहुत ही कम तथा सीमित हैं। आपका स्वास्थ्य नाक के रोग (पोलीपस) के कारण प्रति दिन क्षीण होता जाता है। तीन-चार बार ऑपरेशन कराने पर भी अभी तक इस रोग में कमी नहीं आयी, जिससे मस्तिष्क तथा हृदय और फेफड़ों पर बुरा असर पड़ रहा है। स्वच्छ वायु को इस रोग में विशेष आवश्यकता है, इसी से प्रद्युम्ननगर की रचना हुई।

रियासत के कार्य-भार को उस छोटी अवस्था में आपने जिस योग्यता, परिश्रम एवं गम्भीरता के साथ सँभाला उसका विशेष कथन करना इस लिये व्यर्थ है कि प्रत्यक्ष के लिये विशेष प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि आप उस समय ज़मींदारी के कार्य से अनभिज्ञ थे और इतनी बड़ी रियासत का प्रबन्ध-कार्य भी कुछ साधारण काम न था फिर भी आपने अपनी बुद्धि-कौशल से अनेक विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होते हुए भी सर्व कार्यों को शीघ्र ही हस्तगत कर लिया तथा उन्नति की। आपकी सी क्षमता एवं सहनशीलता बहुत कम पुरुषों में पायी जायगी। आपकी वेश-भूषा इतनी सादी है कि यदि

चपरास लगाये हुए अङ्ग-रक्षक आपके साथ न हों तो कोई अपरिचित व्यक्ति इस बात को कठिनता से मानने को तैयार होगा कि आप इतनी बड़ी रियासत के स्वामी हैं। जहाँ तक हमारे परिज्ञान में आया है, आस-पास के पाँच-सात ज़िलों में आपसे बड़ा मालगुज़ार नहीं है, फिर भी आपमें ऐश्वर्य-मद की छाया भी नहीं दीख पड़ती। आपका अन्तःकरण इतना कोमल है कि जब कभी आपको कोई कर्मचारी पृथक् करना पड़ता है तो आप सम्मुख होकर उसको पृथक् किये जाने की आज्ञा नहीं देना चाहते, दूसरे मुनीम या मैनेजर के द्वारा ही इस कार्य को करा लेते हैं। दोष-पर-दोष बनते रहने पर भी कर्मचारी का दोष उसके सामने अपने मुख से प्रकट कहने में हिचकते हैं। आपका सदैव से यह मत रहा है कि हमको तो अपने कार्य की रक्षा करनी है, दूसरे के दोषों को प्रकट करने की हमको क्या आवश्यकता है। आपमें पक्षपात की मात्रा भी बहुत कम है। अपने मन्तव्य में आपकी पूर्ण दृढ़ता रहती है, परन्तु उस मन्तव्य को दूसरे अङ्गीकार करें या नहीं करें तो उनसे लड़ाई ठान बैठें, ऐसा आपका मत नहीं है।

प्रायः देखा जाता है कि धनी पुरुषों की सन्तान बाल्यावस्था से ही भोग-विलास में फँस कर अपने स्वत्व को खो बैठती है—अन्त में वे ऐसी अवस्था को प्राप्त

होजाते हैं कि साधारण पुरुष भी उनसे मिलने अथवा पास बैठाने में सङ्कोच करने लगते हैं। भोग-विलास-आसक्ति प्राणी में जन्म से ही उत्पन्न नहीं होती, परन्तु इस रोग के कीटाणु दुर्बल आत्मा के चारित्र रूपी शरीर में दुर्व्यसन की संगति द्वारा छद्म रीति से प्रवेश कर जाते हैं, और फिर ज्यों-ज्यों भोग-विलास की सामग्री मिलती रहती है त्यों-त्यों यह वृद्धि को पाकर ज़ोर पकड़ते रहते हैं। अन्त में वह भोग-विलास-आसक्ति रूपी रोग ऐसा भीषण रूप धारण कर लेता है कि उस रोग के निवारण में समर्थ-से-समर्थ उपाय भी असमर्थ पड़ जाते हैं और वह रोग सच्चारित्र रूपी शरीर को सर्वथा क्षीण करके ही पिंड छोड़ता है। अशुद्ध खान-पान भी इस मनुष्य को विलास-प्रियता की ओर ले जाने के लिये कारण पड़ता है। यदि हम सात्विक भोजन की ओर ही अपनी प्रवृत्ति रक्खें तो विकृत भाव की जागृति ही हम में न हो।

कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी का खान-पान बाल्यावस्था से ही बहुत शुद्ध एवं सादा रहा है। उच्चाधिकारी-वर्ग से घनिष्ठ सम्पर्क रहते हुए भी और अनेक बार अशुद्ध भोजन-पान का समागम सम्मुख होते हुए भी आप अपने नियमित सिद्धान्त से नहीं डिगे। श्रीशास्त्रसभा में एक बार जब कुछ त्याग किये जाने का प्रसङ्ग आया

तो आपने अपनी छोटी अवस्था में ही लाला जी की उपस्थिति में सप्त-व्यसन का त्याग कर दिया।

हमने बहुधा स्थानीय लोगों को यह कहते सुना है कि कुँवर जी सभा-सोसाइटियों में भाग नहीं लेते। कोठी की चारदीवारी के अन्दर ही स्थित रहते हैं। हम उन लोगों से पूछें कि सहारनपुर जैसे धनी प्रदेश में अब से केवल ३० वर्ष पहिले कितनी रियासतें थीं? आज वे रियासतें कहाँ हैं? और उनके ह्रास का कारण क्या था? तो हमको पूर्ण विश्वास है कि वे लोग इस का उत्तर नहीं दे सकेंगे। क्योंकि कुँवर जी के लिये कही गयी ऊपर की पंक्तियाँ उस उत्तर से व्यर्थ पड़ जाती हैं। एक समय था जब कि सहारनपुर के सर्व रईस एकत्रित हो कर जिधर को निकल जाते थे, जनता में एक अद्भुत प्रभुत्व जमता चला जाता था और यह ही कारण है कि आज तक सहारनपुर का नाम हिन्दुस्तान की सर्व जैन समाज में कुछ विशेष महत्व रखता है। इन सभा-सोसाइटियों के राग-रङ्ग ने उन रईसों में वह विलास-प्रियता उत्पन्न कर दी कि जिसने उनको सर्व प्रकार से भ्रष्ट कर दिया और आज भी उनकी इस गिरी हुई अवस्था को देख कर अथवा स्मरण करके अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। इस प्रकार

के पतन को देख कर भी हम उस ही मार्ग से अग्रसर हों तो यह हमारी भारी भूल होगी।

कुंवर प्रद्युम्नकुमार जी अपने धार्मिक सभा एवं उत्सवों में भाग न लेते हों ऐसी बात नहीं है। इस प्रान्त में ऐसी कोई वेदी-प्रतिष्ठा हुई होगी जिसमें आप सम्मिलित न हुए हों। आप सामाजिक अधिवेशनों में भी यथासम्भव सम्मिलित होने का प्रयत्न करते ही हैं। आप अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा और मेरठ कॉलिज तथा भारतवर्षीय तीर्थक्षेत्र कमेटी के सदस्य हैं। श्रीहस्तिनागपुर जी तीर्थक्षेत्र प्रबन्धकारिणी कमेटी के महामन्त्री हैं तथा और भी अनेक सभा-संस्थाओं के आप सदस्य हैं। परन्तु आपकी कार्य-प्रणाली सदैव से मौनावलम्बित रही है। जिस कार्य में अधिक खींचातानी का प्रसङ्ग आजाय, आप दोनों पक्षों से पृथक् रहने का ही प्रयत्न करते हैं। अपने आवश्यक कार्यों के अतिरिक्त एकान्तवास ही आपको अधिक रुचिकर है और आप रियासती, घरेलू तथा सामाजिक सर्व ही झंझटों से बचकर रहना चाहते हैं।

आपकी रियासत का सर्व कार्य नियम-बद्ध है। सब रियासत बहुत से इलाकों में विभाजित की गयी है। एक २ इलाके में कई-कई गाँव लगते हैं। प्रत्येक इलाके में एक

कारिन्दा और एक या दो सिपाही नियत रहते हैं और जिनकी नियमानुसार एक इलाके से दूसरे इलाके को तबदीली होती रहती है। प्रत्येक गाँव में रियासत की ओर से आवश्यकतानुसार मुक़द्दम नियत हैं जो कारिन्दे और सिपाहियों को यथासमय सहायता देते हैं। मुख्य-मुख्य ग्रामों में रियासत की ओर से पक्के डेरे बने हुए हैं, जहाँ कि इलाकेदार कारिन्दा गश्त के समय जाकर ठहरता है। प्रत्येक डेरे में एक सिपाही और रसोइया इत्यादि नियत हैं। शहर की दूकानों और मकानों का किराया वसूल करने के लिये पृथक् कारिन्दे और सिपाही हैं। कचहरी, मुहाफिज़खाना, गोदाम तथा तामीर मरम्मत का प्रबन्ध इत्यादि कार्यों के लिये कर्मचारीगण पृथक्-पृथक् नियत हैं। इन सब कर्मचारियों के कार्य की जाँच के लिये एक इंसपैक्टर नियत है जो जाँच करने के पश्चात् अपनी रिपोर्ट मैनेजर रियासतके समक्ष पेश करता है। इसके बाद कुँवर जी की अन्तिम आज्ञा होजाती है। कभी २ कुँवर जी स्वयं भी दौरा करते हैं। 'हालातदेह' आदि इस प्रकार के रजिस्टर व काग़ज़ात हैं कि यहीं बैठे सब व्यवस्था सामने रहती है। वर्षके प्रारम्भ में आमद व ख़र्च का बजट तैयार किया जाता है और उस बजटके अनुरूप कार्य करना मैनेजर और ख़जांचीका कर्तव्य होता है। ऑफ़िसका समय नियत है

जो ऋतुके अनुसार बदलता रहता है। प्रत्येक कर्मचारी को नियत समयमें उपस्थित रहना पड़ता है। रविवार की छुट्टी रहती है। दशलक्षण-पर्व में बराबर दश दिन तक छुट्टी रहती है। त्यौहारों की छुट्टी भी नियत हैं। एक वर्ष में प्रत्येक कर्मचारी एक मास का अवकाश ले सकता है। एक वर्ष तक बराबर काम करने पर दीवाली के अवसर पर इनाम दिया जाता है। पेंशन, छुट्टी आदि की व्यवस्था भी समुचित है। रियासत का वर्ष दीपमालिका से प्रारम्भ होता है। १ जनवरी को पिछले साल का कुल हिसाब व ज़मींदारी के काग़ज़ात की जाँच होकर आगे के लिये व्यवस्था नियत की जाती है। इस प्रकार सब ही कार्य सरकारी दफ़्तरों के समान नियम-बद्ध हैं। नियमावली व कार्य-प्रणाली लिखित है और उसी के अनुसार सब व्यवस्था होती है।

सन् १९२६ में आपने अपने पूज्य पिता जी के स्मारक स्वरूप श्रीदिगम्बर जैन जम्बू विद्यालय का उद्घाटन किया, जिस में उच्च कोटि की संस्कृत एवं धार्मिक ग्रन्थों की शिक्षा दिये जाने की आयोजना की गई। अपने ही एक बाग़ की कोठी में विद्यालय की स्थापना हुई। छात्रावास भी उसके समीप ही दूसरे स्थान में था। शास्त्री कक्षा तक के विद्यार्थियों ने इस में अध्ययन किया। सब



उद्घाटन महोत्सव श्रीदिगम्बर जैन जम्बू विद्यालय, सहारनपुर
बैठे हुए न्या० पं० माणिकचन्द्रजी, रा० सा० प्रद्युम्नकुमारजी, रा० ब० ला० हुलाशरायजी
ला० महाराजप्रसादजी देहरादून वाले (भाई रा० सा०) पं० निद्धामलजी शास्त्री
खड़े तथा नीचे बैठे कुछ विद्यार्थी तथा रियासत के कार्यकर्तागण

विद्यार्थियों का भोजन खर्च इत्यादि भी आपकी ओर से ही होता था। लग-भग छः और सात हजार रुपये वार्षिक विद्यालय और छात्रावास का स्थायी-रूप से खर्च रहा है। पण्डित निद्धामल जी शास्त्री, पण्डित जगन्नाथ जी शास्त्री जैसे अनुभवी विद्वान् इस विद्यालय में अध्यापक रहे हैं। जैन समाज के उद्भट विद्वान् श्रीमान् न्यायाचार्य पण्डित माणिक्यचन्द जी ने प्रधानाध्यापकी का कार्य किया है। विद्यालय सम्बन्धी विशेष विवरण यहाँ लिख कर इस पुस्तक का कलेवर बढ़ाना इस लिये व्यर्थ है कि विद्यालय की वार्षिक रिपोर्ट छपती रही हैं। पाठक-जन विशेष विवरण वहाँ से जान सकते हैं।

जैन समाज में ऐसे कम व्यक्ति होंगे जो श्रीमान् पण्डित माणिक्यचन्द जी के नाम से परिचित न हों फिर भी उनके प्रति हमारी श्रद्धा हमको प्रेरित करती है, कि उनकी सौजन्यता एवं विद्वत्ता के परिचायक कुछ शब्द यहाँ भी अवश्य लिखे जायँ। आप चावली ग्राम (आगरा) के निवासी हैं और आप समाज के सुप्रतिष्ठित एवं उद्भट विद्वान् श्रीमान् पण्डित गोपालदास जी वरैय्या के प्रधान शिष्यों में से हैं। आपकी आकृति अत्यन्त सौम्य और प्रकृति बहुत सरल है। आपका स्वभाव अतीव नम्र है और आपका आचार-विचार बहुत ही ऊँचा है। तथा

खान-पान बहुत शुद्ध है। आपकी धारावाही व्याख्यान-शैली आपके अगाध श्रुत-ज्ञान की द्योतक है। कुछ मनोरञ्जक कथा कहानी, कुछ रसीले चुटकले कह कर सभा के लोगों को प्रफुल्लित कर देना पाण्डित्य नहीं है। परन्तु वास्तविक विद्वत्ता तो वस्तु-तत्त्व के विकास में ही निहित है। यह हो सकता है कि जन-साधारण किसी गूढ़ विषय पर आपके व्याख्यान को सुन कर विशेष बोध न होने के कारण अधिक लाभ न ले सकें। किन्तु विद्वन्-समाज को तो आपका व्याख्यान कुछ समय के लिये चकित बना देता है। साहित्य, व्याकरण इत्यादि सर्व ही विषयों के आप अच्छे विद्वान् हैं फिर भी न्याय में आपका प्रसर बहुत बढ़ा-चढ़ा है। न्याय की अद्भुत शैली एवं अकाट्य युक्तियों से विस्तृत जो श्री तत्वार्थसूत्र जी की संस्कृत टीका श्री श्लोकवार्त्तिक जी श्रीमत् स्वामी विद्यानन्द जी की रची हुई है और जिसको साधारण संस्कृत जानने वाले भी भलो प्रकार समझने में असमर्थ थे आपने कई वर्षों के गाढ़ परिश्रम से तथा स्वर्गीय लाला धूमसिंह जी और हमारे कुँवर जी की विशेष प्रेरणा से, उन श्री श्लोकवार्त्तिक जी की भाषाटीका सवालक्ष श्लोकों में करके विषय को इतना सरल कर दिया कि अब जन-साधारण भी उनको भली भाँति समझ सकेंगे।

जल कितना मूल्यवान एवं आवश्यकीय पदार्थ है इस बात को किसी जल-शून्य प्रदेश में पहुँच जाने पर एक अभागा तृषातुर ही अनुभव कर सकता है। जब तक हमको कोई पदार्थ सुगमता से प्राप्त होता रहे हम उसके महत्व को नहीं पहिचान पाते। ठीक इस ही प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के लिये एक अनुभवी विद्वान् का समागम कितना आवश्यक है इसको ज्ञान-गुण का एक खोजी ही जान सकता है। परन्तु ऐसे महान् विद्वान् की संगति को पाकर भी हम उस के उपयोग से बहिर्मुख रहें यह हमारी कितनी बड़ी भूल है। एक समय ऐसा भी रहा है कि हम खुले रूप में जैन तत्वों का अध्ययन नहीं कर सकते थे। किन्तु ऐसे समय में भी प्रातः स्मरणीय श्री अकलङ्कदेव ने किस प्रकार नाना कष्टों को सहन कर तत्व-ज्ञान को प्राप्त करके संसार में जिन-धर्म की विजय-पताका फहराई। और श्री निःकलङ्क जी ने तो इस प्रयत्न में अपने प्राण तक गवाँ दिये। कितना आदर्श त्याग था। उन त्याग मूर्तियों के असीम साहस का ध्यान कर आज भी हमारा हृदय उन जैसे कर्मठ बनने के लिये उत्तेजित हो उठता है। परन्तु आज हमको सर्व समागम सुलभ होते हुए भी हम अकर्मण्य बने बैठे रहें यह हमारी ओर से ज्ञान-गुण की कितनी बड़ी अवहेलना है। हम देख रहे हैं कि सहारनपुर की जनता श्रीमान्

न्यायाचार्य पण्डित माणिक्यचन्द जी सारिखे दिग्गज विद्वान् के अपने नगर में विद्यमान होते हुए भी उनसे विशेष लाभ नहीं ले रही है। हम ऐसे निरुद्यमी होगये हैं कि हम चाहते हैं कि हमको पिपासा बुझाने के लिये कुएँ पर न जाना पड़े और कुआँ स्वयं हमारे पास आकर हमको तृप्त कर जाय। हम गृहस्थ कार्यों एवं विषय-भोगों में मग्न रहें और कोई महात्मा घर बैठे ही हमको ऐसी जड़ी-बूटी दे जाय कि जो हमको मोक्ष में पहुँचा दे। हमारी ऐसी आकाँक्षा सर्वथा निर्मूल है। उद्यम कोई करे और इसका फल हम को प्राप्त हो जाय, ऐसा जिनमत नहीं है।

हमने श्रीमान् पण्डित जी की सेवा में भी एक बार निवेदन किया था कि गुरुवर्य पण्डित गोपालदास जी तो ज्ञान-प्रसरण कार्य की बाग-डोर आप सारिखे विद्वानों को सँभाल गये। अब आप का भी कर्तव्य है कि शिष्यों के द्वारा तत्व-ज्ञान की परम्परा को विच्छेद न होने दें। आप ने उस समय यह ही कहा कि "मेरी तो यह आन्तरिक भावना रहती है कि जो कुछ भी मेरे पास है उससे कोई लाभ उठावे। जिज्ञासु पुरुषों के लिये मेरा द्वार हर समय खुला हुआ है।" हाथ में आये ऐसे सुअवसर से लाभ न लेना पाये हुए रत्न को समुद्र में फेंक देना है।

कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी का श्रीमान् पण्डित जी के प्रति बहुत स्नेह एवं आदर-भाव है। यद्यपि सन् १९४२ में विद्यालय हाई स्कूल के रूप में परिणत हो गया और इस प्रकार विद्यालय की प्रधानाध्यापकी का कार्य समाप्त होगया, फिर भी कुँवर जी ने आपको अपने पास से जाने नहीं दिया। जितना रुपया पहले वेतन के रूप में दिया जाता था उतना ही अब पुरस्कार स्वरूप दिया जाने लगा। वास्तव में इन महान् विद्वानों के उपकार का बदला देना हमारी सामर्थ्य से बाहर है। परन्तु जब कभी उपकारों का स्मरण हो आता है—हमारा मस्तक विनय से झुक जाता है। ज्ञान-गुण की विनय के आधार ज्ञानी एवं शास्त्र ही तो हैं।

अप्रैल सन् १९२७ में आपको पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। जिस घर में बालक नहीं उस घर में शून्यता-सी छाई रहती है। पाँच-सात स्त्री-पुरुषों के रहते हुए भी घर में वह चहल पहल नहीं होती जो चहल-पहल एक बालक मचाये रखता है। अनेक प्रकार की चिन्ता तथा खेद से चित्त व्याप्त रहने पर भी एक अबोध शिशु व बालक की स्नेह-मयी क्रीड़ा को देख कर मुख-मण्डल पर हास्य की रेखा दौड़ ही जाती है। एक मात्र पुत्र भी घर के शोक और अन्धकार को दूर किये रखता है। इसलिये ही पुत्र को "गृह-दीपक" की उपमा दी

जाती है। पुत्र के जन्म का उत्सव असीम हर्ष के साथ कई दिनों तक मनाया जाता रहा और इस अवसर पर आपने बहुत कुछ पारितोषिक तथा दान वितरण किया और इस ही उपलक्ष में आपने नगर के मध्य एक विशाल-भवन जिसके बाहर एक बहुत बड़ा सहन (चौक) है—जैन धर्मशाला के लिये दिया जाना घोषित किया। यह स्थान उसही समय से एक अच्छी धर्मशाला के रूप में जनता के काम में आ रहा है। इसका सर्व ख़र्च आपकी ओर से ही होता है। इस स्थान तथा इमारत का मूल्य ३००००) या ३५०००) रुपये बड़ी सुगमता से कहा जा सकता है।

माननीय लाला जी के समान आपकी भी धार्मिक कार्यों में ख़र्च करने की विशेष रुचि रही है परन्तु ख़र्च के वार्षिक बजट को उल्लङ्घन कर ख़र्च करने के आप पूर्ण विरोधी हैं। लाला जी के समय से चले आये ख़र्च ही धार्मिक कार्यों के ख़र्च को आपने उस ही प्रकार से स्थिर रक्खा। शिमले की धर्मशाला-निर्माण में आपने बहुत कुछ आर्थिक सहायता दी तथा नींव का पत्थर भी आपके कर कमलों द्वारा रक्खा गया। हज़ारों रुपया श्री तीर्थराज सम्मेदशिखर जी पर तथा गिरनार सिद्धक्षेत्र की धर्मशाला में ख़र्च किया। अपनी रियासत का ग्राम पुरबालियान (ज़िला मुज़फ़्फ़रनगर) के नवीन मन्दिर की प्रतिष्ठा में

आपने बहुत खर्च किया। श्री हस्तिनागपुर जी तीर्थ-क्षेत्र पर श्री मन्दिर जी के बड़े चौक का फ़र्श आपकी ओर से ही तैयार हुआ है। और भी श्री पावापुर इत्यादि क्षेत्रों पर अच्छी रक़में खर्च की हैं उनका सविस्तार विवरण कहां तक दिया जाय। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आपकी आमदनी का लगभग चतुर्थ भाग धर्म-कार्यों में अवश्य खर्च हो जाता है। आपने अपना कुल पुरवालियान ग्राम तथा पंजौरे ग्राम का कुछ भाग जो १०००००) एक लाख रुपये से भी अधिक मूल्य का है, धार्मिक कार्यों के लिये अर्पण कर दिया और इसके सम्बन्ध में एक "प्रद्युम्न ट्रस्ट फंड" क़ायम करके सन् १९४२ में उसकी रजिस्ट्री करा दी। अब इस जायदाद की आमदनी बराबर धर्म-कार्यों में खर्च हो रही है।

आप उर्दू भाषा के अधिक जानकार नहीं हैं, फिर भी जमींदारी के काग़ज़ों की देख-भाल, जाँच-पड़ताल आप बहुत उत्तम रीति से करते हैं। प्रायः देखा जाता है कि बड़े ज़मींदार लोग कारिन्दों के भरोसे ही अपना सब काम छोड़े रखते हैं जिस का अन्तिम परिणाम दुखद होता है। किसी भी काम को स्वयं करने तथा दूसरों के द्वारा कराने में बहुत अन्तर है। बिना किसी देख-भाल के निरर्गल-रूप से किसी काम को दूसरों के भरोसे छोड़ देना तो उस कार्य को

अपने हाथों बिगाड़ लेना है। यह बात अवश्य है कि संसार का सर्व व्यापार पारस्परिक विश्वास के आधार पर निर्भर है परन्तु उसकी भी एक सीमा है। सीमा का उल्लङ्घन प्रत्येक विषय में हानिकारक है। किसी भी रियासत का स्वामी सर्व कार्यों को स्वयं करे यह सर्वथा असम्भव है। परन्तु अपने कर्मचारियों पर उसका भार छोड़ कर सर्वथा निश्चिन्त होजाना भी आगामी में हानि-प्रद प्रतीत होता है। आपने जिस योजना द्वारा रियासत के सर्व कार्यों को एक सूत्र में बाँध रक्खा है, वह अतीव प्रशंसनीय है। इस में प्रति दिन थोड़ा समय लगा देने से ही आप सब कार्यों की जाँच-पड़ताल बहुत सुगमता से कर लेते हैं और रियासत की सर्व व्यवस्था आपके समक्ष रहती है।

अँग्रेजी भाषा में भी आपने अच्छा अनुभव प्राप्त कर लिया है। अँग्रेजी में पत्र-व्यवहार इत्यादि सर्व कार्य आप बहुत उत्तम रीति से करते हैं। संस्कृत तथा देवनागरी भाषा के आप अच्छे विद्वान् हैं। श्रीशास्त्र-सभा में शास्त्रजी बाँचने का अभ्यास भी आपको अच्छा है। जब कभी कारणवश एक-दो-तीन तक मुनीम लोग न आ सकें तो आप रियासत का बहीखाता मुण्डी हिन्दी में स्वयं कर लेते हैं। आपके यहाँ सदैव से हाथी रहा है, आप हाथी स्वयं चला लेते हैं। चार घोड़ों की गाड़ी आप स्वयं

हाँक लेते हैं। मोटर कार चलाने में तो आप बहुत ही निपुण हैं। इस प्रकार सब ही विषयों में आपकी बहुत अच्छी योग्यता है। सन् १९३४ में 'रायसाहब' का टाइटिल आपको सरकार की ओर से प्राप्त हुआ।

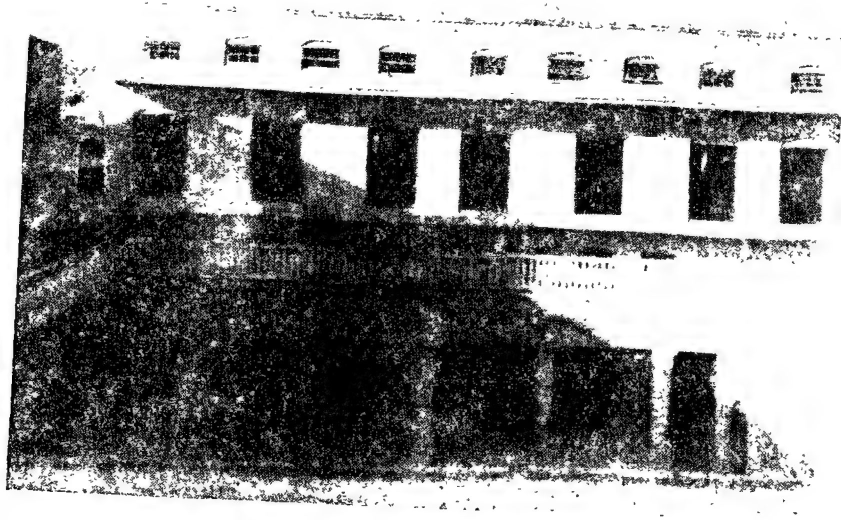
रियासत सम्बन्धी सर्व कार्य करते हुए भी आप का उसमें कुछ विशेष राग नहीं है। प्रयत्न किये जाने पर रियासत की आमदनी में बहुत कुछ वृद्धि होजाने की सम्भावना प्रारम्भ से ही रही है और कुछ अंशों में वृद्धि हुई भी है। आपकी कभी ऐसी अभिलाषा नहीं रही कि मैं और अधिक समृद्धिशाली बनूं। आपको वर्तमान विभव के ही बने रहने में सन्तोष है। संसार का वास्तविक स्वरूप आपके हृदय में अच्छी प्रकार से अङ्कित है और आपके परिणाम उससे विरक्ति-रूप हैं। सांसारिक पदार्थों के लाभ अलाभ में हर्ष-विषाद का न होना ही संसार-विरक्ति का मोटा चिह्न है। सन् १९३७ में आपको कुछ कारणों से तथा ज़मींदारों व मित्रों के आग्रह से कौंसिल की मैम्बरी के लिये उठना पड़ा था। कांग्रेस का उस समय पूर्ण साम्राज्य था। कांग्रेस के प्रतिपक्ष में सब ही को असफल होना पड़ा था। तीस-चालीस हज़ार रुपया आपका उस इलैक्शन में खर्च हुआ, परन्तु परिणाम वह ही हुआ जो और सब का हुआ था। पुरुषार्थ उद्योग से काम किया गया। कुछ थोड़ी

सी सम्मतियाँ ही कम रही थीं किन्तु इस असफलता से आप के कार्यकर्ताओं को तो अवश्य खेद हुआ, परन्तु आप के चित्त में विषाद की छाया भी दृष्टिगत नहीं हुई। आपका हृदय कितना उदार एवं विरक्त है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है। आप राजकीय सहायता करने में भी पीछे नहीं रहे हैं। भिन्न-भिन्न अवसरों पर आप विशेष भाग लेते रहे हैं। ४०००) अस्पताल (के० प्रसाद चाइल्ड वैलफेयर एण्ड मेटरनिटी सेण्टर), ६००००) वार लोन और ४०००) गवर्नर यू० पी० को युद्ध-कार्य के लिये भेंट किये।

श्रीदिगम्बर जैन जम्बू विद्यालय का कार्य १९४२ ई० तक सुचारु-रूप से यथायोग्य चलता रहा। परन्तु विद्यालय में राजविद्या की शिक्षा का प्रबन्ध न होने से केवल धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में विद्यार्थियों में उत्साह की कमी प्रतीत हुई। उधर स्थानीय जैन पाठशाला जो मिडिल स्कूल के रूप में कार्य कर रही थी, कुछ अच्छी दशा में नहीं थी। यह देख कर स्थानीय जैन-समाज में यह भाव उत्पन्न हुआ कि यह दोनों संस्थायें मिला कर यदि एक हाई स्कूल के रूप में परिणत होजायें तो समाज को इससे विशेष लाभ पहुँच सकेगा। कई महीनों तक इस विषय में विचार-धारा चलती रही। परन्तु अन्त में समाज के विशेष आग्रह को



प्रद्युम्ननगर (सहारनपुर) में कोठी कुँवर-निवास के पूर्वीय भाग का एक दृश्य
(इसका निर्माण-कार्य चल रहा है और अभी बहुत शेष है)



श्रीजम्बू विद्यालय जैन हाईस्कूल सहारनपुर के प्रद्युम्न-ब्लाक का कुछ भाग

कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी नहीं टाल सके और दोनों संस्थायें मिला कर "श्रीजम्बू विद्यालय जैन हाई स्कूल सहारनपुर" के नाम से एक हाई स्कूल में परिणत कर दी गयीं। सलावा (मेरठ) निवासी मास्टर रूपचन्द जी जैन M. A. L. T. इस स्कूल के हेड मास्टर हैं। आप बड़े पुरुषार्थी, मिलनसार और सदुत्साही हैं। आपके सदुद्योग से अब यह स्कूल सहारनपुर में उच्च कोटि के स्कूलों में गिना जाता है। मासिक खर्च के अतिरिक्त कुँवर जी ने ५०००) स्कूल में तीन बड़े कमरे बनवाये जाने के लिये और प्रदान किये। विशेष विवरण स्कूल की वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित होता रहता है।

आपकी रियासत का ग्राम पिंजौरा सहारनपुर की कलक्टरी कचहरी से लगभग दो फ़र्लाङ्ग पर है। आपने "प्रद्युम्ननगर" के नाम से वहाँ पर एक आबादी क़ायम की है जो म्युनिसिपल बोर्ड के अन्दर है। इस ग्राम का कुछ भाग बहुत से प्लाटों में विभाजित किया गया है और यह प्लाट नाम मात्र किराये पर स्थायी पट्टे पर जनता को दे दिये गये हैं। कुछ कोठियाँ बन कर तैयार भी होगयी हैं। युद्ध आरम्भ होजाने के कारण सामग्री का मिलना कठिन होगया और इस लिये शेष कार्य सब रुक गया। पक्की सड़क बन गयी है। आप भी अपनी कोठी

वहाँ बनवा रहे हैं। लगभग ५००००) उसमें लग चुके हैं और अभी बहुत काम उसमें होने को बाक़ी है। आपका विचार उस कोठी से मिला हुआ एक जिन-चैत्यालय बनवाने का भी है। निर्माण-कार्य के लिये रुपया श्रीकञ्चन बाई धर्मपत्नी कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी की ओर से रिज़र्व कर दिया गया है। श्रीप्रतिमा जी भी आगयी हैं, केवल कुछ सामान चिनाई का मिलने की देरी है। चैत्यालय बन जाने पर आपका विचार स्थायी रूप से वहीं रहने का है।

आपके सुपुत्र चिरञ्जीव देवकुमार जी की प्रकृति भी आपके समान ही बहुत सरल है। बाल्यावस्था से ही इनका खान-पान, रहन-सहन एवं वेश-भूषा अतीव साधारण रही है। वर्तमान में देखा जाता है कि छोटे-छोटे बच्चे सिगरेट तथा अन्य मादक पदार्थ बड़े अभिमान से सेवन करते हैं और उनके माता-पिता भी उनको ऐसा करने से नहीं रोकते। इसके विपरीत उनको अपने सम्मुख इन पदार्थों को सेवन करते हुए हर्षित होते हैं। प्रायः यह सब बातें फैशन में गिनी जाने लगीं। किन्तु देवकुमार जी इन सब बातों से सर्वथा दूर हैं। सिगरेट इत्यादि की तो बात ही क्या, इनको कभी पान खाते हुए देखने का अवसर भी हमको प्राप्त नहीं हुआ। कुमार अवस्था में



चिरञ्जीव कुँवर देवकुमार जैन
सुपुत्र लाला प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर

ही इनकी सतेज मुखाकृति एवं भाषा भविष्य में विशिष्ट उन्नति की द्योतक हैं।

चिरञ्जीव देवकुमार जी का विद्यारम्भ संस्कार ८ वर्ष की अवस्था में सन् १९३४ में बड़े उत्सव एवं समारोह के साथ मनाया गया। सर्व प्रथम अपने ही दिगम्बर जैन जम्बू विद्यालय में प्रविष्ट हुए। संस्कृत में अच्छा अभ्यास प्राप्त किया और अब संस्कृत तथा हिन्दी के साथ-साथ अँग्रेजी की शिक्षा चल रही है। आप मैट्रिक पास कर चुके हैं। इनका विवाह सम्बन्ध कानपुर निवासी श्रीमान् रायसाहब लाला रूपचन्द्र जी जैन रईस, जमींदार, स्पेशल मजिस्ट्रेट की आयुष्मती पुत्री के साथ होना निश्चित हुआ है।

भिन्न-भिन्न अवसरों पर कुँवर प्रद्युम्नकुमार जी को अनेक अभिनन्दन-पत्र आदि भेंट किये गये, किन्तु उन सब को यहाँ पुस्तक में सम्मिलित करके व्यर्थ पुस्तक को बढ़ाना अभीष्ट नहीं है। विद्यारम्भ-संस्कार पर तो अनेक अभिनन्दन-पत्र भेंट किये गये थे, जिनमें से केवल एक श्री दिगम्बर जैन जम्बू विद्यालय के छात्र चिरञ्जीव राजेन्द्रकुमार जैन 'कुमरेश' द्वारा समर्पित तथा पठित कविता देकर यह पुस्तक पूर्ण की जाती है।

चिरञ्जीव देवकुमार के विद्यारम्भ—संस्कार पर हृदय उद्गार

आनन्द का सोता हृदय में, आज बहता है अहा।
ये आज का दिन शुभ घड़ी, शुभ ही मुहूरत है महा॥
सौभाग्य ही संसार में, सर्वोच्च होता है अहो।
सौभाग्य से देखा न कोई, जो कि महिमा-मय न हो॥
हम आज जिनका कर रहे हैं, कीर्ति-गान स्वगान में।
उन-सा न है सौभाग्यशाली, मनुज विश्व-विधान में॥
ऐश्वर्य, ऋद्धि-समृद्धि, सुख, उल्लास, मोद-प्रमोद सब।
उत्साह, साहस, धैर्यता, कर्तव्य तत्परता अजब॥
इनको सभी आगार लख गुण, आन बसते हैं अहो।
हैं देव-दुर्लभ भी सुलभ, सब वस्तुयें इनको अहो॥
वे भाग्यशाली विश्व में, "प्रद्युम्नकुँवर" कुमार हैं।
है नाम में माधुर्य कितना, सरस भाव उदार हैं॥
अपकारियों के साथ भी, उपकार करते आप हैं।
मन में न प्रत्युपकार की, कुछ आश रखते आप हैं॥
आप नर-शार्दूल मानव, भाग्यवान विशिष्ट हैं।
पुण्याधिकारी, गुणागारी, सदाचारी, शिष्ट हैं॥
चिरञ्जीव "देवकुमार" इनके, ही सुपुत्र प्रधान हैं।
जिन के यहाँ यह हो रहे, विद्यार्थ परम विधान हैं॥

भगवान इनकी गी मनोहारी, जगत में हो सदा।
सब सुख कर्त्री हों प्रभो, संसार की यह सम्पदा॥
हों आप चिर आयु प्रभो, है आप से यह प्रार्थना।
उद्गार आशा है यही, ये ही मेरी अभ्यर्चना॥
जब तक गगन में सूर्य-शशि, होते रहें प्रभुवर उदय।
तब तक जियें चिर आयु हों, सम्पत्ति होवें सब अक्षय॥

विनीत—

वि० राजेन्द्रकुमार जैन

"कुमरेश"

श्रीमान् तीर्थभक्त शिरोमणि लाला जम्बूप्रसाद जी जैन रईस सहारनपुर का वंश-वृक्ष

लगभग सन १६२५ ई० में सहारनपुर आये

सन १६ . . . २५ ई० में लगभग

दत्तक पुत्र

औरस पुत्र

गोत्र गोयल

दिगम्बर जैन धर्म

जाति अग्रवाल जैन

PREPARED BY R. DAYAL BANSAL